श्रीअरविन्द

गीता-प्रबंध

द्वितीय भाग

(प्रथम खंड)

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

श्रीअरविन्द-लिखित गीता-संबंधी प्रमुख ग्रंथ 'एसेज आन दी गीता' (Essays on the Gita) की प्रथम लेख-मालाका हिन्दी अनुवाद 'गीता-प्रबंध, प्रथम भाग' के नाम-से बहुत दिनोंसे प्रकाशित हो चुका है। अब उसी ग्रंथकी द्वितीय लेखमालाके प्रथम भागका हिन्दी अनुवाद 'गीता-प्रबंध, द्वितीय भाग, प्रथम खंड' के नामसे प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रकाशक
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण
१५ अगस्त १९५५

मुद्रक
श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
पांडिचेरी

विषय-सूची

कर्म, प्रेम और ज्ञानका समन्वय

१

दो प्रकृतियां*

गीताके प्रथम छः अध्याय उसकी शिक्षाओंके एक कांडके रूपमें विवृत किये गये हैं, यह कांड गीताकी साधना और ज्ञानका प्राथमिक आधार है; शेष बारह अध्याय भी इसी प्रकार दो परस्पर-संबद्ध कांडोंके तौरपर विवृत किये जा सकते हैं, इनमें पूर्वोक्त प्राथमिक आधारके ऊपर ही गीताकी शेष शिक्षाका विस्तार किया गया है। सातवेंसे बारहवेंतकके अध्यायोंमें भगवान्‌के स्वरूपका व्यापक तात्त्विक निरूपण है और फिर इसके आधार-पर, जैसे गीताके प्रथम षट्कमें कर्म और ज्ञानमें परस्पर-संबंध स्थापित कर दोनोंका समन्वय साधित किया गया, वैसे ही इस द्वितीय षट्कमें ज्ञान और भक्तिमे परस्पर घनिष्ठ संबंध जोड़कर इन दोनोंका समन्वय किया गया है। इस बीच ग्यारहवें अध्यायमें विश्वपुरुषदर्शन आता है जो समन्वयकी इस भूमिकाको शक्तिशाली सक्रिय रूप प्रदान करता है तथा समस्त कर्म और जीवनके साथ

---

*गीता अ. ७ श्लोक १–१४

इसका संबंध स्पष्ट रूपसे जोड़ देता है। इस तरह अवतकका संपूर्ण विवेचन प्रबल रूपमें अर्जुनके मूल प्रश्नकी ओर लौट आता है जिसके चारों ओरसे ही यह संपूर्ण निरूपण घूमकर अपनी परिक्रमा पूरी करता है। इसके वाद गीता प्रकृति और पुरुषका भेद दिखाकर त्रिगुणके कर्म और फिर निस्त्रैगुण्यकी अवस्था और निष्काम कर्मोंकी उस ज्ञानमें परिसमाप्ति जहां वह ज्ञान भक्तिके साथ एक हो जाता है, इन तीनोंके वारेमें अपने सिद्धांतोंका विशदीकरण करती है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति एक होते हैं और फिर यहांसे गीताकी उठान होती है उसके उस परम वक्तव्यकी ओर जो सर्वभूतमहेश्वरके प्रति आत्मसमर्पणके संबंधमें उसका गुह्यतम वचन है।

गीताके इस द्वितीय कांडमें जो निरूपणकी शैली है वह अव-तककी शैलीकी अपेक्षा अधिक संक्षिप्त और सरल है। प्रथम छः अध्यायोंमें ऐसे स्पष्ट लक्षण नहीं किये गये हैं जिनसे आधारभूत सत्यकी पहचान हो; जहां जो कठिनाइयां पेश हुई हैं वहां उनका चलते-चलाते समाधान कर दिया गया है; विवेचनका क्रम कुछ क्लिष्ट-सा और कितनी ही उलझनों और पुनरावृत्तियोंमेंसे होकर चलता रहा है; बहुत कुछ तथ्य गर्भित-सा ही रहा है जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाया है। अब यहांसे क्षेत्र कुछ अधिक परिष्कृत-सा दीख रहा है, विवेचन अधिक संक्षिप्त और लक्ष्यार्थ-का सूचक है। परंतु इस संक्षेपके कारण ही हमें बराबर साव-धानीके साथ अग्रसर होना होगा जिससे कहीं कोई भूल न हो जाय, कहीं वास्तविक अभिप्राय छूट न जाय। कारण, यहां हम आंतरिक और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सुरक्षित भूमिपर स्थिर

होकर नहीं चल रहे हैं, बल्कि यहां हमें आध्यात्मिक और प्रायः विश्वातीत सत्यके बौद्धिक प्रतिपादनको देखना-समझना है। दार्शनिक विषयके प्रतिपादनमें यह कठिनाई और अनिश्चितता सदा रहती ही है कि बात तो कहनी होती है असीम अपरिच्छिन्न-की, पर उसे कहना होता है बुद्धिग्राह्य होनेके लिये परिच्छिन्न करके; यह एक ऐसा प्रयास है जो करना तो पड़ता है पर जो कभी पूर्ण रूपसे संतोषजनक नहीं हो सकता, उसके विषयमें कभी 'इदमित्थं' नहीं कहा जा सकता। परम आध्यात्मिक सत्यको जीवनमें उतारा जा सकता है, उसका साक्षात्कार पाया जा सकता है पर उसका वर्णन केवल अंशतः ही हो सकता है। उपनिषदों-की पद्धति और भाषा इससे अधिक गभीर है, उसमें प्रतीक और रूपकका स्वच्छंदतया उपयोग किया गया है, जो कुछ कहा गया है वह अंतर्ज्ञानका ही स्वच्छंद प्रवाह है जिसमें बौद्धिक वाणी-का कठोर पारिभाषिक बंधन टूट गया है और शब्दोंके गर्भित अर्थोंमेंसे संकेतका एक अपार तरंग-प्रवाह निकल आया है। अध्यात्मके इस क्षेत्रमें यही पद्धति और भाषा ठीक होती है। परंतु गीता इसका अवलंबन नहीं कर सकती, कारण इसे एक बौद्धिक समस्याका समाधान करना है, मनकी एक ऐसी अवस्थाको सामने रखकर उसे समझाना है जिसमें तर्कबुद्धि—जिसके सामने ही हम अपनी सब प्रेरणाओं और भाव-तरंगोंके परस्पर-विरोध आदि रखा करते और उससे फैसला चाहते हैं वह तर्कबुद्धि—आप ही अपने विरुद्ध हो रही है और किसी प्रकारका निश्चय करनेमें सर्वथा असमर्थ है। तर्कबुद्धिको एक ऐसे सत्यकी ओर ले जाना है जो इसके परे है, पर वहां उसे ले जाना है उसीके अपने साधन और अपनी

पद्धतिसे। यहां तर्कबुद्धिके सामने यदि कोई ऐसा आत्मानुभवगत समाधान रखा जायगा जिसके तथ्योंके विषयमें उसे कुछ भी अनुभव नही है तो उसे उसकी सत्यतापर तबतक विश्वास नही हो सकता जबतक आत्मसत्ताके जिन सत्योंके आधारपर वह समाधान स्थित है उनका बौद्धिक निरूपण करके उसे संतुष्ट न कर दिया जाय।

अबतक प्रतिपाद्य विषयकी पुष्टिमें जो सत्य उसके सामने रखे गये है वे उसके पहलेसे ही परिचित है और विषयका उप-क्रम करनेभरके लिये वे पर्याप्त है। सबसे पहले अक्षर पुरुष और प्रकृतिस्थ पुरुष, इन दोनोंमें भेद किया गया है। यह भेद यह दिखलानेके लिये किया गया है कि यह प्रकृतिस्थ पुरुष जबतक अहंकार-कृत कर्मके अदर बंद्ध रहता है तबतक वह निश्चय ही त्रिगुणकी क्रियाओसे बंधा रहता है—उसकी देहस्थित बुद्धि, मन, प्राण और इंद्रियोंका सारा कर्म और सारी कर्मपद्धति त्रिगुणके अस्थिर खेलके सिवा और कुछ भी नहीं होती। और इस चक्करके अंदर इसका कोई समाधान नही है। अत-एव समाधान ढूढना होगा इस चक्करसे, त्रिगुणमयी प्रकृतिसे, ऊपर उस एक अक्षर पुरुप और शांत ब्रह्मकी ओर उठकर, क्योंकि तभी कोई इस कठिनाईकी सारी जड़ जो अहंकार और कामकृत कर्म है उसके परे पहुंच सकता है। परंतु केवल इतनेसे तो अकर्मकी ही प्राप्ति होती है, क्योकि प्रकृतिके परे कर्मका कोई करण नही, न कर्मका कोई कारण या निर्द्धारण ही है—अक्षर पुरुप तो अकर्मण्य है, सब पदार्थों, कार्यों और घटनाओमें तटस्थ और सम है। इसलिये यहां योगशास्त्रप्रतिपादित ईश्वर एवं भगवान्-संबंधी यह भाव लाया गया है कि ईश्वर सब कर्मों और

यज्ञोंके भोक्ता प्रभु है, और यहा केवल इसका संकेतमात्र किया गया है, यह स्पष्ट नही बताया गया है कि ये भगवान् अक्षर ब्रह्मके भी परे है और इन्हीमे विश्व-लीलाका निगूढ़ रहस्य निहित है। इसलिये अक्षर पुरुषसे होकर इनकी ओर ऊपर बढनेसे हम अपने कर्मोसे आध्यात्मिक मुक्ति भी पा सकते है और साथ ही प्रकृतिके कर्मोमे भी भाग लेते रह सकते है। पर अभी यह नही बताया गया है कि ये परम पुरुष जो यहा भगवान् गुरु और कर्म-रथके सारथि-रूपमे अवतरित है, कौन है और अक्षर पुरुष तथा प्रकृतिस्थ व्यष्टि-पुरुषके साथ इनके क्या संबंध है। न यह बात ही अभी स्पष्ट हुई है कि किस प्रकार भगवान्से आनेवाली कर्म-प्रेरणा या सकल्प त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके अंदर होनेवाली इच्छासे कोई भिन्न वस्तु है। और यदि यह सकल्प त्रिगुणात्मिका प्रकृति-की ही इच्छा हो तो इसका अनुसरण करनेवाला जीव, अपने आत्म-भावमे न सही, पर अपने कर्ममें तो त्रिगुणके बंधनसे नही बच सकता; और यदि यही बात है तो यह प्रतिज्ञात मुक्ति मायिक या अधूरी ही रही। ऐसा मालूम होता है कि यह संकल्प सत्ताके कार्यवाहक अंशका एक पहलू है, प्रकृतिकी मूल शक्ति और कार्यकारिणी वृत्ति है; इसे शक्ति, प्रकृति कहते है। तो क्या ऐसी भी कोई प्रकृति है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके परे है? क्या कोई ऐसी भी सृष्टि-शक्ति, कोई ऐसी संकल्पशक्ति एवं कर्म-शक्ति है जो अहंकार, काम, मन, इंद्रियसमूह, वुद्धि और प्राणावेग-से भिन्न है?

इसलिये ऐसी संदिग्ध अवस्यामें अव जो कुछ करना है वह यही है कि वह ज्ञान, जिसकी वुनियादपर भागवत कर्म किया जायगा,

और अधिक पूर्णताके साथ बता दिया जाय। और वह ज्ञान उन भगवान्‌के स्वरूपका ही समग्र और अखंड ज्ञान हो सकता है जो भगवान् संपूर्ण कर्मके मूल कारण हैं और जिनकी सत्ताके अंदर कर्मयोगी ज्ञानके द्वारा मुक्त हो जाता है, क्योंकि तब वह उस मुक्त आत्माको जान लेता है जिसमेंसे यह अखिल कर्मप्रवाह निकलता है और उसके मुक्त स्वरूपका भागी होता है। इसके अतिरिक्त, उस ज्ञानसे वह प्रकाश मिलेगा जिससे गीताके प्रथम भागके उपसंहारमें जो बात कही गयी है उसकी यथार्थता सिद्ध होगी। आध्यात्मिक चैतन्य और कर्मके सब हेतुओं और शक्तियोंके ऊपर, भक्तिकी श्रेष्ठता उसे प्रतिष्ठित करनी होगी; वह ज्ञान सब प्राणियोंके उन परमेश्वरका ज्ञान होगा जिनके प्रति ही जीव प्रेम और भक्तिकी जो पराकाष्ठा है उस पूर्ण आत्मसमर्पणके साथ अपने-आपको उत्सर्ग कर सकता है। सातवें अध्यायके आरंभके श्लोकोंमे भगवान् इसीका उपक्रम करते हैं। ग्रंथके शेष अध्यायोंमें फिर इसीकी परिणति हुई है। भगवान् कहते हैं, "मुझमें अपने मनको आसक्त करके और मुझे अपना आश्रय (जीवकी चेतन सत्ता और कर्मका संपूर्ण आधार, निवास और शरणस्थान) बनाकर योग साधन करनेसे किस प्रकार तुम मुझे नि.संशय "**समग्रं माम्**" समग्र रूपसे जानोगे वह सुनो। मैं "**अशेषतः**" बिना कोई बात छोड़े (क्योंकि छोड़नेसे फिर संशयके लिये अवकाश रहेगा), तुमसे वह ज्ञान विज्ञानसहित कहूंगा जिसे जान लेनेपर जाननेकी और कोई बात बाकी न रह जायगी।" कहनेका अभिप्राय यह है कि "**वासुदेवः सर्वमिति**" अर्थात् सब कुछ भगवान् है और इसलिये यदि उन्हें उनकी सब शक्तियों और तत्त्वोंके साथ

समग्र रूपसे जान लिया जाय तो सब कुछ जान लिया गया, केवल विशुद्ध आत्मा ही नहीं बल्कि जगत्, कर्म और प्रकृति भी। तब यहां जाननेकी और कोई चीज नही रह जाती, क्योंकि सब कुछ भगवान्‌की ही सत्ता है। हम लोगोंकी दृष्टि इस तरहकी समग्र न होनेसे तथा विभाजक मन-बुद्धि और अहंकारगत पृथक्-भाव इसका आधार होनेसे, हमारी बुद्धिमें जगत्‌के विषयोंकी जो प्रतीति होती है वह अज्ञान है। हमें इस मन-बुद्धि और अहभावप्रयुक्त दृष्टिसे निकलकर वास्तविक एकत्वसाधक ज्ञानमें प्रवेश करना होगा। उस ज्ञानके दो पहलू है, एक स्वरूप-ज्ञान जिसे केवल ज्ञान कहते है, और दूसरा सर्वग्राही ज्ञान जिसे विज्ञान कहते हैं। एक परमात्मस्वरूपका अपरोक्ष अनुभव है और दूसरा उसकी सत्ताके विभिन्न तत्त्वों, अर्थात् प्रकृति, पुरुष तथा अन्य सब तत्त्वोका यथावत् स्वानुभूत ज्ञान है जिसके द्वारा भूतमात्र अपने मूल भागवत स्वरूपमें तथा अपनी प्रकृतिके परम सत्यमें जाना जा सकता है। वह समग्र ज्ञान, गीता कहती है कि, बड़ी दुर्लभ और कठिन वस्तु है, "सहस्रों मनुष्योंमें एकाध ही कोई सिद्धि पानेका प्रयत्न करता है और ऐसा प्रयत्न करके सिद्धि पानेवालोंमें विरला ही कोई मुझे मेरे स्वरूपके सब तत्त्वोंके साथ (तत्त्वतः) जानता है।"

अब उपक्रमके तौरपर तथा इस समग्र ज्ञानको सुप्रतिष्ठित करने योग्य मनोभूमिका निर्माण करनेके लिये भगवान् वह गभीर और महत् भेद करते हैं जो गीताके संपूर्ण योगका व्यावहारिक आधार है, यह भेद है दो प्रकृतियोंका, एक प्रकृति है प्राकृत और दूसरी आध्यात्मिक। "भौतिक सृष्टिके मूलभूत पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार—यह मेरी अष्टधा विभक्त प्रकृति है। पर इससे

भिन्न मेरी जो दूसरी, परा प्रकृति है उसे जान लो जो जीव बना करती है और जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।" यहां गीताका वह प्रथम नवीन दार्शनिक सिद्धांत आया जिससे, सांख्य शास्त्रके मन्तव्योंसे आरंभ करके, वह उनके आगे बढ़ती है और सांख्योंके शब्दोंको रखती हुई और उन्हें विस्तृत करती हुई उनमें वेदांतका अर्थ भर देती है। प्रकृतिको जो अष्टधा कहा गया जिसमें पांच महाभूत—भौतिक सृष्टिके मूलभूत पंचतत्त्व जिनके स्थूल नाम पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश हैं,—मन अपनी पंच ज्ञानेंद्रियों और पंच कर्मेंद्रियों सहित, बुद्धि और अहंकार, ये आठ अंग हैं, यही सांख्योंका प्रकृतिवर्णन है। सांख्यशास्त्र यहीं रुक जाता है और इसी रुकावके कारण उसे प्रकृति और पुरुषके बीच एक ऐसा भेद करना पड़ता है जो दोनोंको जुटने नहीं देता और इस कारण दोनोंको एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न दो मूल सत्ताएं ही मान लेना पडता है। गीताको भी, यदि यहीं वह रुक जाती तो, पुरुष और विश्व-प्रकृतिके बीच वही अपरिहार्य विच्छेद ही स्थापित करना पड़ता और तब यह विश्वप्रकृति त्रिगुणात्मिका मायामात्र और यह सारा विश्व-प्रपंच उस मायाका ही परिणाम-सा रह जाता; इसके सिवाय प्रकृति और उसके इस विश्व-प्रपंच-का और कुछ भी अर्थ न होता। पर बात इतनी ही नहीं है और भी कुछ है, एक परा प्रकृति भी है, एक आत्माकी प्रकृति भी है, "परा प्रकृतिर्मे"। भगवान्‌की एक परा प्रकृति है जो इस विश्व के अस्तित्वका मूल, इसकी मूलभूत सृष्टि-शक्ति और कर्म-शक्ति है; और अपरा निम्नगा अज्ञानमयी प्रकृति इसीसे उत्पन्न हुई है और इसीकी अंधकारपूर्ण छाया है। इस परा प्रकृतिके

अंदर पुरुष और प्रकृति एक हैं। प्रकृति वहां पुरुषकी संकल्प-शक्ति और कर्तृ-शक्ति है, पुरुषकी स्वयं अभिव्यक्त होनेकी क्रिया है,—कोई पृथक् वस्तु नहीं, प्रत्युत स्वयं सशक्तिक पुरुष ही है।

यह परा प्रकृति केवल विश्वके कर्मोंमें अंतःस्थित भागवत शक्तिकी उपस्थिति ही नहीं है। कारण यदि ऐसा होता तो वह उस सर्वव्यापक आत्माकी ही निष्कर्म उपस्थिति होती जो आत्मा सब पदार्थोंमें है या जिसके अंदर सब पदार्थ हैं और जिसकी सत्तासे विश्वकर्म होता है पर जो स्वयं कर्त्ता नहीं है। यह परा प्रकृति फिर सांख्योंका वह 'अव्यक्त' भी नहीं है जो व्यक्त सक्रिय अष्टविध प्रकृतिकी आदि अव्यक्त बीज-स्थिति है जिसे उत्पादक मूल प्रकृति कहते हैं और जिसमेंसे उनके सब करण और कर्म-शक्तियां उत्पन्न होती हैं। और न वेदांत-शास्त्रके ही अनुसार अव्यक्त का अर्थ करके यह कहा जा सकता है कि यह परा प्रकृति अव्यक्त ब्रह्म या आत्माके अंदर अव्यक्त रूपसे रहनेवाली वह शक्ति है जिसमेंसे विश्व उत्पन्न होता है और जिसमें इसका लय होता है। परा प्रकृति यह है, पर यही नहीं, इससे भी अधिक बहुत कुछ है, यह तो उसकी केवल एक आत्मस्थिति है। परा प्रकृति परम पुरुषकी समग्र चिच्छक्ति है जो जीव और जगत्के पीछे है। अक्षर पुरुषके अंदर यह आत्मामें निमज्जित रहती है; यह है वहां भी, पर निवृत्तिमें, कर्मसे पीछे हटी हुई; क्षर पुरुष और विश्वमें यह बहिर्भूत होकर कर्ममें प्रवृत्त होती है, प्रवृत्तिमें आती है। प्रवृत्तिमें यह अपनी सशक्तिक सत्ताके द्वारा ब्रह्ममें सर्वभूतोंको उत्पन्न करती और उन भूतोंमें उनके उस मूल आध्यात्मिक प्रकृति-रूपसे प्रकट होती है जो उनकी बाह्यांतर प्राकृत क्रीड़ाका आधारभूत चिरंतन

सत्य है। यही मूलभूत भाव और शक्ति है जिसे 'स्वभाव' कहते हैं जो सबके स्वयं होने—प्राकृत रूपमें आनेका स्वगत तत्त्व है, सबकी प्राकृत सत्ताका स्वांतःस्थित तत्त्व और ईश्वरी शक्ति है। त्रिगुणकी साम्यावस्था इस परा-प्रकृति-तत्त्वसे उत्पन्न होनेवाली एक परिमेय एवं सर्वथा गौण क्रीडामात्र है। अपरा प्रकृतिका यह सारा नामरूपात्मक कर्म, यह अखिल मनोमय, इंद्रियगत और बौद्धिक व्यापार केवल एक बाह्य प्राकृत दृश्य है जो उसी आध्यात्मिक शक्ति और स्वभावके कारण ही संभव होता है, उसीसे इसकी उत्पत्ति है और उसीमें इसका निवास है, उसीसे यह है। यदि हम केवल इस बाह्य प्रकृतिमें ही रहें और हमारे ऊपर इसके जो संस्कार होते हैं उन्हींसे हम जगत्को समझना चाहें तो हम कदापि अपने कर्ममय अस्तित्वके मूल वास्तविक तत्त्वको नहीं पा सकते। वास्तविक तत्त्व यही आध्यात्मिक शक्ति, यही भागवत स्वभाव, यही मूलगत आत्मभाव है जो सब पदार्थोंके अंदर है या यह कहिये कि जिसके अंदर सब पदार्थ है और जिससे ही सब पदार्थ अपनी शक्तियां और कर्मोंके बीज ग्रहण करते हैं। उस सत्तत्त्व, शक्ति और भावको प्राप्त होनेसे ही हम अपने भूतभावका असली धर्म और अपने जीवनका भागवत तत्त्व पा सकेंगे, केवल अज्ञानमें उसकी प्रक्रियामात्र नहीं, बल्कि ज्ञानके अंदर उसका मूल और विधान पा सकेंगे।

आजकलकी जो विचार-पद्धति है उसके अनुसार वैसी ही भाषामें यहां गीताका यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है; पर यदि हम परा प्रकृतिका वर्णन करनेवाले उसके ही शब्दोंको देखें तो यह देख पड़ेगा कि यही वास्तवमें उसका अभिप्राय है। कारण

पहले भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह दूसरी प्रकृति मेरी परा प्रकृति है, 'प्रकृति मे पराम्'। और यहां यह जो 'मैं' है, वह पुरुषोत्तम अर्थात् परम पुरुष, परमात्मा, विश्वातीत और विश्व-व्यापी आत्माका वाचक है। परमात्माकी मूल सनातन प्रकृति और उसकी परात्परा मूल कारण-शक्ति ही परा प्रकृतिसे अभिप्रेत है। कारण अपनी प्रकृतिकी कर्तृशक्तिकी दृष्टिसे जगदुत्पत्तिकी बात कहते हुए भगवान्का यह स्पष्ट वचन है कि, "यह सब प्राणियोंकी योनि है"—एतद्योनीनि भूतानि। इसी श्लोकके फिर दूसरे चरणमें उसी बातको प्रसविता आत्माकी दृष्टिसे कहते हैं, "मैं ही संपूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय हूं; मेरे परे और कुछ भी नहीं है।" यहां इस तरह परम पुरुष पुरुषोत्तम और परा प्रकृति एकीभूत हैं; एक ही सतत्त्वकी ओर देखनेके दो प्रकारोंके तौरपर वे यहां रखे गये हैं। कारण, जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस जगत्का प्रभव और प्रलय मैं हूं तब यह स्पष्ट है कि इसका मत-लब परा प्रकृति अर्थात् उनके स्व-भावमें है जो यह प्रभव और प्रलय दोनों ही चीजें हैं। परमात्मा अपने अनंत चिद्घन स्व-रूपसे परम पुरुष हैं और परा प्रकृति उनकी स्वभावगत अनंत शक्ति या संकल्प है—यह अनंत चिद्घन-स्वरूप ही है अपनी स्वांतःस्थित भागवत शक्ति और परम भागवत कर्मके साथ। प्रभव परमात्मामेंसे इसी चिच्छक्तिका आविर्भूत होना है, परा प्रकृतिर्जीवभूता, क्षर जगत्में उसकी यह प्रकृति है; प्रलय पर-मात्माकी अक्षर सत्ता और स्वात्मलीन शक्तिके अंदर इस चिच्छ-क्तिका अंतर्भाव होनेसे कर्मकी निवृत्ति है। परा प्रकृतिसे यही मूल अभिप्राय है।

अर्थात् परा प्रकृति स्वयंभू परमात्म-स्वरूपकी अनंत दिक्कालायनवच्छिन्न चिच्छक्ति है जिसमेंसे विश्वके सब प्राणी आविर्भूत होते और कालातीत सत्तासे कालके अंदर आते हैं। पर दिक्कालके अंदर इस विविध विश्वप्रभवको आत्मसत्ताका आधार दिलानेके लिये परा प्रकृति स्वयं जीवरूप धारण करती है। इसी बातको दूसरी तरहसे यों कहिये कि पुरुषोत्तमका अनेकात्मक, जो सनातन आत्मस्वरूप है वही विश्वके इन सब रूपोंमें व्यष्टि-पुरुष होकर प्रकट होता है। सभी प्राणी उसी एक अभेद्य अच्छेद्य परमात्माकी सत्तासे व्याप्त हैं, सबकी व्यष्टि-सत्ता, सबके कर्म और रूप उसी एक पुरुषकी सनातन अनेकताके द्वारा विधृत हैं। हम कहीं ऐसा समझनेकी भूल न कर बैठें कि यह परा प्रकृति कालावच्छिन्न जीवमात्र है और कुछ नहीं अथवा यह कि यह केवल जीव-भावकी ही प्रकृति है और आत्मसत्ताकी नहीं; परम पुरुषकी परा प्रकृतिका यह स्वरूप नहीं हो सकता। कालावच्छिन्न रूपमें भी यह परा प्रकृति इससे कुछ अधिक है; कारण यदि ऐसा न हो तो विश्वरूपसे इसका मतत्त्व यही हुआ कि जगत्में यह अनेकताकी ही प्रकृति है और यहां एकत्व-धर्मवाली प्रकृति कोई है ही नहीं। परंतु गीताका यह अभिप्राय नहीं है—गीता यह नहीं कहती कि परा प्रकृति स्वयं ही जीव है, जीवात्मिका है, बल्कि गीताने यह कहा है कि वह जीवभूता है अर्थात् वह जीव बनी है; इस 'जीवभूता' शब्दमें ही यह ध्वनि है कि अपने इस बाह्यत. प्रकट जीव-रूपके पीछे यह परा प्रकृति इससे भिन्न और कोई बड़ी चीज है, यह एकमेवाद्वितीय परम पुरुषकी निज प्रकृति है। गीताने आगे चलकर यह बतलाया है कि यह जीव ईश्वर है, पर

ईश्वर है अपने अंशाविर्भावमें, ममैवांशः है; ब्रह्मांड अथवा यह कहिये कि अनंत कोटि ब्रह्मांडोंके सब जीव मिलकर भी अपने अभिव्यक्ति-रूपमें समग्र भगवान् नहीं हो सकते, सब मिलकर उस अनंत एकमेवाद्वितीयके अंशाविर्भाव ही हैं। उनके अंदर अविभक्त एक ब्रह्म विभक्त-सा रहता है, अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। यह एकत्व महत्तर सत्य है, अनेकत्व उससे लघु सत्य है; यद्यपि है दोनों सत्य ही, उनमेंसे कोई भी मिथ्या-माया नहीं।

इस अध्यात्म-प्रकृतिके एकत्वके द्वारा यह जगत् धृत रहता है, ययेदं धार्यते जगत्; उसीसे इस जगत्की सब भूतभावोंके साथ उत्पत्ति होती है, एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि, और उसीमें प्रलयकालमें सारे जगत् और उसके प्राणियोंका लय होता है, अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। परंतु इस दृश्य जगत्में जो आत्मासे बहिर्भूत होता, उसीके सहारे कर्म करता और प्रलयकालमें कर्मसे निवृत्त होता है, यह जीव ही नानात्वका आधार है; इसे, जिसको हम यहां अनुभव करते हैं, हम चाहें तो बहु पुरुष कह सकते हैं अथवा नानात्वका अंतरात्मा भी कह सकते हैं। यह अपने स्वरूपसे भगवान्के साथ एक है, भिन्न है केवल अपने स्व-रूपकी शक्तिसे—इस अर्थमें भिन्न नहीं कि यह वही शक्ति बिल-कुल नहीं है, बल्कि इस अर्थमें कि यह केवल, उसी एक शक्तिके लिये आंशिक बहुविध व्यष्टीभूत कर्ममें आधारका काम करता है। इस-लिये सभी पदार्थ आदिमें, अंतमें और अपने स्थितिकालमें तत्त्वतः आत्मा या ब्रह्म ही हैं। सबका मूल स्वभाव आत्मभाव ही है, केवल उनके नानात्वके अपर भावमें वे कुछ दूसरी चीज अर्थात्

शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रिय-रूप प्रकृति देख पड़ते हैं। पर ये बाह्य गौण प्रकाशमात्र हैं, हमारे स्वभाव और स्व-सत्ताके विशुद्ध मूल स्वरूप नहीं।

परमात्माकी परा प्रकृतिमें इस तरह हमें अपनी विश्वातीत सत्ताका मूलभूत सत्य और शक्ति तथा विश्वलीलाका आध्यात्मिक आधार दोनों ही मिलते हैं। परंतु उस परा प्रकृति और इस अपरा प्रकृतिको जोडनेवाली यह बीचकी कड़ी कहां है? "मेरे अंदर", श्रीकृष्ण कहते हैं कि, "सर्वमिदं" अर्थात् इस जगत्की ये सब वस्तुएं जिन्हें उपनिषदोंमें प्रायः 'सर्वमिदं' पदसे कहा गया है—सूत्रमें मणियोंके सदृश पिरोयी हुई हैं। परन्तु यह केवल एक उपमा है जो एक हदतक ही काम दे सकती है, उसके आगे नहीं; क्योंकि मणियोंका केवल परस्पर-संबंध ही यह सूत्र जोड़े रहता है; इसके साथ मणियोंका, सिवा इसके कि मणियोंका यह परस्पर-संबंध मणि-सूत्रपर ही आश्रित रहता है, और कोई एकताका नाता नहीं रहता। इसलिये हम उस उपमेयकी ओर ही चलें जिसकी यह उपमा है। वास्तवमें परमात्माकी परा प्रकृति अर्थात् परमात्माकी अनंत चिच्छक्ति ही, जो आत्मविद्, सर्वविद् और सर्वज्ञ है, इन सब गोचर पदार्थोंको परस्पर संबद्ध रखती, उनके अंदर व्याप्त होती, उनमें निवास करती, उन्हें धारण करती और उन सबको अपनी अभिव्यक्तिकी व्यवस्थाके अंदर बुन लेती है। यही एक परा शक्ति केवल सबके अंदर रहनेवाले एक आत्माके ही रूपमें नहीं बल्कि प्रत्येक प्राणी और पदार्थके अंदर जीव-रूपसे, व्यष्टि-पुरुष-सत्ताके रूपसे भी प्रकट होती है; यही प्रकृतिके संपूर्ण त्रैगुण्यके बीजतत्त्व-रूपसे भी प्रकट होती है। अतएव प्रकृतिके

प्रत्येक पदार्थके पीछे ये ही छिपी हुई अध्यात्म-शक्तियां हैं। त्रैगुण्यका यह परम बीजतत्त्व त्रिगुणका कर्म नहीं है, त्रिगुण-कर्म तो गुणोंका ही व्यापार है, उनका आध्यात्मिक तत्त्व नहीं। वह बीजभूततत्त्व अंतःस्थित आत्मतत्त्व है जो एक है, पर फिर भी इन बाह्य नाना नाम-रूपोंकी वैचित्र्यमयी अंत.शक्ति भी है। यह संभूतिका, भगवान्‌के क्षर भावका मूलभूत सत्तत्त्व है और यही सत्तत्त्व अपने इन सब नाम-रूपोंको धारण करता है और इसीके अंदर इन सबका आध्यात्मिक और भागवत अभिप्राय निहित है। गुणत्रयके कर्म बुद्धि, मन, इंद्रिय, अहंकार, प्राण और शरीरके केवल बाह्य अस्थिर भाव हैं—सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च। परंतु यह बीजभूत तत्त्व स्वभाव है—भूतभावकी आदि सनातन अंत.शक्ति है। विश्व-प्रभवका तथा प्रत्येक जीवके भूत-भावका मूल विधान करनेवाला यही स्वभाव है, यही अंतःशक्ति है; प्रकृतिके संपूर्ण कर्मका यही बीज और यही उसके विकासका कारण है। प्रत्येक प्राणीके अंदर यह तत्त्व छिपा हुआ है, यह परात्पर भगवान्‌के ही आत्माविर्भावसे, 'मद्‌भाव'से निकलता और उससे अविच्छिन्न रहता है। भगवान्‌के इस 'मद्भाव' का स्वभावके साथ और स्वभावका बाह्य भूतभावोंके साथ अर्थात् भगवान्‌की परा प्रकृतिका व्यष्टिपुरुषकी आत्मप्रकृतिके साथ और इस विशुद्ध मूल आत्मप्रकृतिका त्रिगुणात्मिका प्रकृति-की मिश्रित और द्वंद्वमय क्रीड़ाके साथ जो संबंध है उसीमें उस परा शक्ति और इस अपरा प्रकृतिके बीचकी लड़ी मिलती है। अपरा प्रकृतिकी विकृत शक्तियां और उसकी संपदाएं उसे परा शक्तिकी ही परम शक्तियों और सम्पदाओंसे प्राप्त है और इस-

लिये अपरा प्रकृतिकी शक्तियों और संपदाओंको अपना मूल और वास्तविक स्वरूप तथा अपने सर्वविध समंजस स्वभावनियत मूल धर्म जाननेके लिये परा शक्तिकी शक्तियों और संपदाओंके समीप लौट जाना होगा। इसी प्रकार यह जीव, जो यहां इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी सीमित, हीन और अपर क्रीड़ाके अंदर निमग्न है, यदि इससे निकलकर अपने पूर्ण भागवत स्वरूपको प्राप्त होना चाहे तो, उसे अपने स्वभावके मूलभूत गुणके विशुद्ध कर्मका आश्रय ले करके अपने स्वरूपके इस परम धर्ममें लौट जाना होगा जिसमें ही वह अपनी दिव्य भागवत प्रकृतिके संकल्प, शक्ति, सक्रिय तत्त्व और परम कर्मभावका पता पा सकता है।

यह बात इसके बादवाले श्लोकोंसे ही स्पष्ट हो जाती है जिसमें कई उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि किस प्रकार भगवान् अपनी परा प्रकृतिकी शक्तिके साथ इस विश्वके चेतन तथा अचेतन कहे जानेवाले प्राणियोंमें प्रकट होते और कर्म करते है। इन उदाहरणोंको काव्यकी भाषाके छंदानुक्रमवश जिस अस्त-व्यस्तसे रूपमें रखा गया है उससे इन्हें हम छांटकर अलग निकाल सकते है और उनके ठीक दार्शनिक क्रममें ला सकते है। प्रथमतः, भागवत शक्ति और सत्ता पंचमहाभूतोंमें अनुप्रविष्ट होकर कर्म करती है—"मैं जलमें रस हूं, आकाशमें शब्द, पृथ्वीमें गंध और अग्निमें तेज हूं", और इसीकी पूर्णताके लिये यह कहा जा सकता है कि वायुमें मैं स्पर्श हूं। अर्थात् भगवान् ही अपनी परा प्रकृति-के रूपसे इन सब विभिन्न इंद्रिय-विषयोंके मूलमें स्थित शक्ति हैं और प्राचीन सांख्य सिद्धांतके अनुसार इन्ही इंद्रिय-विषयोंके भौतिक उपकरण है ये पंच महाभूत—आकाशीय, तैजस, वैद्युतिक तथा

वायवीय, तलीय और अन्य मूलभूत जड़रूप। ये पंचमहाभूत अपरा प्रकृतिके परिमाणात्मक जड़रूप अंग हैं और ये ही सब भौतिक रूपोंके उपादान हैं। पंच तन्मात्राएं—रस, स्पर्श, गंधादि—अपरा प्रकृतिके गुणभूत अंग हैं। ये पंचतन्मात्राएं सूक्ष्म शक्तियां हैं जिनकी क्रियाके द्वारा ही इंद्रियगत चैतन्यका स्थूल भौतिक रूपोंके साथ संबंध स्थापित होता है—भौतिक सृष्टिके संपूर्ण ज्ञानके मूलमें ये ही शक्तियां हैं। जड दृष्टिसे जड़ ही सत् पदार्थ है और इंद्रिय-विषय उन्हींमेंसे निकलते हैं; परन्तु अध्यात्म-दृष्टिसे उल्टी ही बात है। जड सृष्टि और जड़ उपकरण स्वयं ही किसी अन्य सत्तासे निकली हुई शक्तियां हैं और मूलतः केवल ऐसी स्थूल पद्धतियां या अवस्थाएं हैं जिनमें जगत्के भीतर प्रकृतिके त्रिगुणके कर्म जीवके इंद्रियचैतन्यके सामने प्रकट होते हैं। एकमात्र मूल सनातन सत्पदार्थ प्रकृति अर्थात् स्वभावकी शक्ति और उसकी गुण-वत्ता है जो इंद्रियोंके द्वारा जीवके सम्मुख इस प्रकार प्रकट होती है। और इंद्रियोंके अंदर जो कुछ सार-तत्त्व है, परम आध्यात्मिक और अत्यंत सूक्ष्म है, वह तत्त्वतः वही वस्तु है जो वह सनातनी गुणवत्ता और शक्ति है। पर प्रकृतिके अंदर यह जो स्व-भाव-शक्ति है वह स्वयं भगवान् ही हैं अपनी प्रकृतिके रूपमें; इसलिये प्रत्येक इंद्रिय अपने विशुद्ध स्वरूपमें वही प्रकृति है, प्रत्येक इंद्रिय सक्रिय चिच्छक्तिमें स्थित भगवान् ही हैं।

इसी सिलसिलेमें जो और पद आये हैं उनसे यह बात और अच्छी तरहसे प्रकट होती है। "मैं शशि और सूर्यकी प्रभा, मनुष्यमें पौरुष, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें बल, तपस्वियोंमें तप हूं।" "सब भूतोंमें मैं जीवन हूं।" प्रत्येक

उदाहरणमें उस असली गुणकी ही शक्तिका संकेत किया गया है—ये सब भूतभाव जो कुछ बने है उसके लिये वे इसी शक्तिपर निर्भर करते है। वह मूलभूत गुण ही वह विशिष्ट लक्षण है जो समस्त भूतभावकी प्रकृतिमें भागवती शक्तिकी सत्ताको लक्षित कराता है। भगवान् फिर कहते है कि, "सब वेदोमें मै प्रणव हूं" अर्थात् वह मूल ध्वनि ॐ हू जो अपौरुषेय वेदकी समस्त सृष्टि-शक्तिशाली ध्वनियोका मूल है। ॐ ही स्वर और शब्दकी शक्ति-का वह एकमात्र विराट् रूप है जिसमे वाक् और शब्दकी समस्त आध्यात्मिक शक्ति और विकास-संभावना अतर्भूत और एकत्र है। इसीमे ये सब शक्तिया समन्वित रहती और इसीमेंसे वाहर निकलती है। इसीमेसे वे अन्य ध्वनिया निकलती है और इसी-का विकास मानी जाती है जिनमेंसे भाषाओंके शब्द निकलते और वुने जाते है। इससे यह वात स्पष्ट हो जाती है। इंद्रिय, प्राण, ज्योति, वुद्धि, तेज, वल, पौरुष, तप आदिके वाह्य प्राकृत विकास परा प्रकृतिकी चीज नही है, वल्कि परा प्रकृति वह मूलभूत गुण है जो अपनी आत्मस्वरूप शक्तिमें ही स्थित है और वही स्वभाव है। आत्माकी जो शक्ति इस प्रकार व्यक्त हुई है, आत्मचैतन्यकी जो ज्योति तथा व्यक्त वस्तुओमें उसके तेजकी जो शक्ति है वही अपने विशुद्ध मूल स्वरूपमे आत्म-स्वभाव है। वह शक्ति, ज्योति ही वह सनातन वीज है जिसमेसे अन्य सव चीजें विकसित और उत्पन्न हुई है, जिसकी अन्य सव चीजे परिवर्तन-शील और नमनीय अवस्थाएं है। इसीलिये इस सिलसिलेके वीचमें गीता एक सर्वसामान्य सिद्धांतके तौरपर यह वात कह जाती है कि, "हे पार्थ, मुझे सव भूतोका सनातन वीज जानो।" यह

सनातन बीज आत्माकी शक्ति, आत्माकी सचेतन इच्छा है, वह बीज है जिसे, गीताने जैसा कि अन्यत्र बतलाया है कि, भगवान् महत् ब्रह्ममें, विज्ञानस्वरूप महत्‌में आधान करते हैं और उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। यही वह आत्मशक्ति है जो सब भूतोंमें मूलभूत गुण-रूपसे प्रकट होती और उनका स्वभाव बनती है।

इस मूलभूत गुणरूप शक्ति और अपरा प्रकृतिका इंद्रिय-मनो-गोचर प्राकृत विकार अर्थात् विशुद्ध वस्तुतत्त्व और इसका अपर रूप, इन दोनोंमें जो प्रकृत भेद है, वह इस सिलसिलेके अतमें स्पष्ट करके दरसा दिया गया है। "बलवानोंका मै बल हू काम-रागविवर्जित" अर्थात् विषयोंके प्राकृत भोग-सुखसे सर्वथा अनासक्त। "प्राणियोंमें मै काम हूं धर्मके अविरुद्ध।" अब जो प्रकृतिके इसके बाद उत्पन्न होनेवाले आतरिक भाव है (मनके भाव, कामसे उत्पन्न होनेवाले भाव, कामक्रोधादिकोंके वेग, इंद्रियोंकी प्रतिक्रियाएं, बुद्धि-के वद्ध और द्वंद्वात्मक खेल, मनोभाव और नैतिक भावमे होने-वाले उलट-फेर) जो सात्विक, राजस और तामस हुआ करते है तथा प्रकृतिके जो त्रिगुणकर्म है वे, गीता कहती है कि, स्वयं परा प्रकृतिके विशुद्ध भाव और कर्म नही है बल्कि उसीसे निकले हुए ह; "है वे मुझसे ही—मत्त एव" अर्थात् वे और कहीसे नही उत्पन्न हुए है, "पर मै उनके अंदर नही हू, वे मेरे अंदर है।" यह सचमुच ही एक बहुत बड़ा पर सूक्ष्म प्रभेद है। भगवान् कहते हैं, "मै मूलभूत ज्योति, बल, काम, शक्ति, बुद्धि हूं पर उनसे उत्पन्न होनेवाले ये विकार मै निज स्वरूपसे नहीं हूं न उनमें मै रहता हूं, परंतु फिर भी ये सब है मुझसे ही और मेरी ही सत्ताके अंदर।" इसलिये इन्ही वचनोके आधारपर हमे सब पदार्थोंका

परा प्रकृतिसे अपरा प्रकृतिमें आना और अपराने पुनः पराको प्राप्त होना देखना होगा।

पहले वचनको समझनेमें कोई कठिनाई नही है। बलवान् पुरुषके अंदर बल तत्त्वगत भागवती प्रकृति तो है पर फिर भी बलवान् पुरुष काम और आसक्तिके वशमे हो जाता, पापमें गिर जाता और पुण्यकी ओर जानेके लिये प्राणपण चेष्टा करता है। इसका कारण यही है कि वह अपने समस्त जीवनके कर्म करते समय नीचे उतरकर त्रिगुणकी पकड़में आ जाता है, अपने कर्मको ऊपरसे, अपनी असली भागवती प्रकृतिके द्वारा नियंत्रित नहीं करता। उसके बलका दिव्य स्वरूप इन निम्न क्रियाओंसे किसी प्रकार विकृत नही होता, समस्त अज्ञान, मोह और स्खलनके होते हुए भी वह मूलतः ठीक एकसा ही बना रहता है। उसकी उस भागवती प्रकृतिमे भगवान् मौजूद रहते और उसी भागवती प्रकृति-की शक्तिके द्वारा इस अपरा प्रकृतिकी अधःस्थितिकी गड़बड़ी-मेंसे होकर उसे धारण करते हैं जबतक कि वह फिरसे उस बीजभूत ज्योतिको नहीं पा लेता और अपने स्वरूपके सच्चे सूर्यकी ज्योतिसे अपने जीवनको पूर्ण रूपसे प्रकाशित तथा अपनी परा प्रकृतिस्थ भागवती इच्छाकी विशुद्ध शक्तिसे अपने संकल्प और कर्मका नियमन नहीं करने लगता। यह तो हुआ, पर भगवान् 'काम' कैसे हो सकते है?—जब कि इसी कामको महाशत्रु कहकर उसे मार डालनेको कहा गया है। पर वह काम त्रिगुणात्मिका निम्नगा प्रकृतिका काम है जिसकी उत्पत्ति रजो-गुणसे होती है, **'रजोगुणसमुद्भवः'**; और इसी अर्थमें हम लोग प्रायः काम शब्द का प्रयोग किया करते है। पर यह काम, जो

एक आध्यात्मिक तत्त्व है, एक ऐसा संकल्प है जो धर्मके अविरुद्ध है।

क्या इस आध्यात्मिक कामका अभिप्राय पुण्य काम, नैतिक, सात्त्विक काम है?—कारण पुण्यकी उत्पत्ति और प्रवृत्ति सदा सात्त्विक ही हुआ करती है। परंतु ऐसा माननेसे स्पष्ट ही 'वदतो व्याघात' का दोष आता है, कारण इसके बादके चरणमें ही यह बात कही गयी है कि सब सात्त्विक भाव भी भगवद्रूप नहीं बल्कि निम्नजात विकार हैं। भगवान्के सान्निध्यमें पहुंचनेके लिये पापका तो परित्याग करना ही पड़ता है, पर यदि भगवन्-स्वरूपमें प्रवेश करना है तो उसी प्रकार पुण्यको भी पार कर जाना पड़ता है। पहले सात्त्विक तो बनना ही होगा, पर पीछे इसे भी पीछे छोड़कर आगे बढ़ना होगा। नैतिक सदाचार केवल चित्त-शुद्धिका साधन है। इससे भागवती प्रकृतिकी ओर हम ऊंचे उठ सकते हैं, पर वह प्रकृति स्वयं ही द्वंद्वातीत होती है,—और वास्तव-में यदि ऐसा न होता तो विशुद्ध भागवत सत्ता या भागवत शक्ति किसी ऐसे बलवान् मनुष्यमें कभी न रह सकती जो राजस काम-क्रोधके अधीन होता है। आध्यात्मिक अर्थमें धर्म नीतिमत्ता या सदाचार ही नहीं है। गीताने अन्यत्र कहा है कि धर्म वह कर्म है जो स्वभावके द्वारा अर्थात् अपनी प्रकृतिके मूलभूत विधानके द्वारा नियत होता है। और यह स्वभाव मूलतः आत्माकी ही अंतःस्थित चिन्मय इच्छा और विशिष्ट कर्मशक्तिका ही विशुद्ध गुण है। अतः कामका अभिप्राय यहा हमारे अंदर रही हुई उस सहेतुक भगवदिच्छासे है जो निम्नगा प्रकृतिके आमोदकी नही बल्कि अपनी ही क्रीड़ा और आत्मपूर्णताके आनंदकी खोज करती और

उसे ढूंढ़ निकालती है; यह जीवनलीलाके उस दिव्य आनंदकी कामना है जो स्वभावके विधानके अनुसार अपनी सनातन कर्म-शक्तिको प्रकट कर रहा है।

पर फिर इस कथनका क्या अभिप्राय है कि भगवान् भूतोंमें, अपरा प्रकृतिके रूपों और भावोंमें, सात्त्विक भावोंतकमें नहीं हैं, यद्यपि वे सब हैं उन्हींकी सत्ताके अंदर? एक अर्थसे तो भगवान्-का उनके अंदर होना स्पष्ट ही अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना उन सब पदार्थोंका रहना ही संभव नहीं हो सकता। अभिप्राय तब यही हो सकता है कि भगवान्‌की जो वास्तविक परा आत्म-प्रकृति है उस रूपमें भगवान् उनके अंदर कैद नहीं हैं; बल्कि ये सब विकार उन्हींकी सत्तामें अहंकार और अज्ञानके कर्मद्वारा उत्पन्न होते हैं। अज्ञानमें सभी चीजें उलटी दिखाई देती हैं और एक प्रकारकी मिथ्याकी ही अनुभूति होती है। हम लोग क्या समझते हैं कि जीव इस शरीरके अंदर है, शरीरका ही एक परि-णाम और विकार है; ऐसा ही हम उसे अनुभव भी करते हैं; पर सच तो यह है कि जीवके अंदर शरीर है और वही जीवका परिणाम और विकार है। हम अपने आत्माको अपने इस महान् अन्नमय और मनोमय व्यापारका एक अंश-सा जानते हैं—अंगुष्ठ-मात्र प्रदेशसे अधिक बड़ा पुरुषको नहीं मानते; पर यथार्थमें यह सारा जगद्व्यापार चाहे जितना भी बड़ा क्यों न मालूम हो, यह आत्माकी अनंत सत्ताके अंदर एक बहुत ही छोटी-सी चीज है। यहां भी वही बात है; उसी अर्थमें ये सब भूतभाव भगवान्‌के अंदर हैं, भगवान् उनके अंदर नहीं हैं। यह त्रिगुणात्मिका निम्नगा प्रकृति जो पदार्थोंको मिथ्या रूपमें दिखाती है और उन्हें निम्नतर

रूप दे देती है, माया है। मायासे यह मतलब नहीं कि वह कुछ है ही नहीं या उसका सारा व्यापार असत्‌में असत्‌ ही के साथ है बल्कि यह कि यह हमारे बोधमें विक्षेप उत्पन्न करती है, असली चीजको नकली रूपमें सामने रखती है और हमारे ऊपर अहंकार, मन, इंद्रिय, देह और सीमित बुद्धिका आवरण डाल देती और हमसे हमारी सत्ताका परम सत्य छिपाये रहती है। भरमानेवाली यही माया हमसे वह भगवत्स्वरूप छिपा रखती है जो हम हैं, जो हमारा अनंत अक्षर आत्मस्वरूप है। "इन त्रिविध गुणमय भावोंसे यह सारा जगत् मोहित है और इससे इनके परे जो परम और अव्यय मैं हूं उसे नहीं जानता।" यदि हम यह देख सकें कि वही भगवत्स्वरूप हमारी सत्ताका वास्तविक सद्रूप है तो और सब कुछ भी हमारी दृष्टिमें बदल जायगा, अपने असली रूपमें आ जायगा और हमारा जीवन तथा कर्म भागवत अर्थको प्राप्त होकर भागवती प्रकृतिके विधानके अनुरूप प्रवृत्त होगा।

पर जब भगवान् ही इन सब चीजोंमें है और भागवती प्रकृति ही इन सब भरमानेवाले विकारोंके मूलमें मौजूद है और जब हम सब जीव हैं और जीव वही भागवती प्रकृति है तब क्या कारण है कि इस मायाको पार करना इतना कठिन है, इतनी यह "**माया दुरत्यया**" है? कारण यही है कि यह माया भी तो भगवान्‌की माया है, "**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया**" (यह गुणमयी दैवी माया मेरी है)। यह स्वयं दैवी है और भगवान्‌की ही प्रकृतिका—अवश्य ही देवताओंके रूपमें भगवान्‌की प्रकृतिका—विकार है; यह दैवी है अर्थात् देवताओंकी है या यह कहिये कि देवाधिदेवकी है, परंतु देवाधिदेवके अपने विभक्त अहमर्थ और इदमर्थकी—

सात्त्विक, राजस, तामस भावकी। यह समष्टि-विश्वका आवरण है जो देवाधिदेवने हमारी बुद्धिके चारों ओर बुन रखा है; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रने इसके ताने-बाने बुने हैं; परा प्रकृतिरूपिणी शक्ति इस बुनावटके मूलमें है और इसके एक-एक धागेमें छिपी हुई है। हमें इस बुनावटका काम अपने अंदर पूरा कर लेना है और इसमेंसे होकर, इसका उपयोग करके, इसे पीछे छोड़ आगे बढ़ना है, देवताओंमेंसे फिरकर उन परम मूल स्वरूप देवाधिदेवको प्राप्त होना है जिनमें पहुंचनेसे ही हम देवताओं और उनके कर्मों-का परम अभिप्राय तथा आत्म अपनी ही अक्षर आत्मसत्ताके परम गुह्य आध्यात्मिक सत्योंको एक साथ ही जानेंगे। 'मेरी ओर जो फिरते और आ जाते हैं वे ही इस मायाको पार करते हैं—मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"

२

भक्ति-ज्ञान-समन्वय*

गीता कोई दार्शनिक तत्त्वालोचनका ग्रंथ नहीं है। यद्यपि प्रसंगसे इसमें दार्शनिक सिद्धांत बहुत-से आ गये हैं; कारण इसमें किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांतका उल्लेख स्वयं उसीके प्रतिपादनके लिये नहीं किया गया है। इसका हेतु है परम सत्यको परम व्यावहारिक उपयोगके लिये ढूढना, तर्कबुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञानपिपासाकी भी तुष्टिके लिये नहीं, बल्कि एक ऐसे सत्यके रूपसे ढूढना जो हमारी रक्षा कर सके और हमारी वर्तमान मर्त्य जीवनकी अपूर्णतासे अमर पूर्णताकी ओर ले जानेवाला मार्ग हमारे लिये खुल जाय। इसलिये इस अध्यायके पहले चौदह श्लोकोंमें एक ऐसे मुख्य दार्शनिक सत्यका निरूपण किया गया है जिसका जानना यहां हमारे लिये आवश्यक है और फिर तुरत ही बादके सोलह श्लोकोंमें उसका व्यावहारिक उपयोग बताया गया है। यही कर्म, ज्ञान और भक्तिके समन्वय-साधनका आरंभ है—कर्म और ज्ञानका

---

*गीता अ. ७, श्लोक १५–२८।

समन्वय तो इससे पहले हो ही चुका है।

हमारे सम्मुख तीन शक्तियां हैं—परम सत्यस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम जिनकी ओर हमें विकसित होना है, आत्मा और जीव। अथवा इसी बातको हम यों कह सकते है कि एक परम पुरुष है, दूसरी ब्रह्म और तीसरी वह बहुरूप जीवात्मा जो हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्वका कालातीत मूल है, सत्य और सनातन व्यष्टि-पुरुष "ममैवांशः सनातनः" है। ये तीनों ही भगवदीय है, तीनों ही भगवान् है। परा प्रकृति, जो अवच्छेदक अज्ञानसे मुक्त है, पुरुषोत्तमकी प्रकृति है। वही परा प्रकृति ब्रह्मके अंदर भी है पर वहा वह सनातनी शांति, साम्य और निवृत्तिकी अवस्थामें है। यही प्रकृति प्रवृत्तिके लिये बहुरूप व्यष्टि-पुरुष या जीव बनती है। परंतु इस परा प्रकृतिका स्वगत वास्तविक कर्म सदा भागवत कर्म ही होता है। इस परा भागवती प्रकृतिकी शक्ति ही अर्थात् परम पुरुषकी स्वसत्ताकी चिन्मयी संकल्पशक्ति ही जीवके विशेष स्वरूप-गुणकी विविध बीजभूत और आध्यात्मिक शक्तिके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है; यही बीजभूत शक्ति जीवका स्वभाव है। इस आध्यात्मिक शक्तिसे ही सीधे जो कर्म और जन्म होता है वह दिव्य जन्म और विशुद्ध आध्यात्मिक कर्म होता है। अत. इससे यह निष्कर्ष निकला कि कर्म करते हुए जीवका यही प्रयास होना चाहिये कि वह अपने मूल आध्यात्मिक व्यष्टि-स्वरूपको प्राप्त हो और अपने कर्मोको उसीकी परमा शक्तिके ओजसे प्रवाहित करे, कर्मको अपने अंतरात्मा और अंतरतम स्व-रूप-शक्तिसे विकसित करे, न कि मन-बुद्धिकी कल्पना और प्राणोंकी इच्छासे, और इस तरह अपने सब कर्मोको परम पुरुषके संकल्पका ही

विशुद्ध प्रवाह बना दे, अपने सारे जीवनको भगवत्-स्वभावका समर्पित प्रतीक बना दे।

परंतु इसके साथ ही यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति भी है जो अज्ञान-विशिष्ट है और जिसका कर्म अज्ञान-विशिष्ट कर्म है जो अशुद्ध, उलझा हुआ और उलटा ही हुआ करता है; यह अपर व्यष्टि-पुरुषभावका, अहंकारका, प्राकृत पुरुषका कर्म होता है, आध्यात्मिक व्यष्टि-पुरुषका नहीं। उस मिथ्या व्यष्टि-पुरुष-भावसे विरत होनेके लिये हमें निर्गुण निराकार आत्माकी शरण लेकर उसके साथ एक हो लेना पड़ता है। तब, इस प्रकार अहं-भावाच्छन्न व्यष्टि-पुरुषभावसे मुक्त होकर हम अपने वास्तविक व्यष्टि-स्वरूपका श्रीपुरुषोत्तमके साथ जो संबंध है उसे जान सकते हैं। यह व्यष्टि-पुरुष स्वसत्तासे उनसे अभिन्न तत्स्वरूप ही है; तथापि व्यष्टि होनेसे प्रकृतिके कर्म और कालाधीन विकासमें, अवश्य ही, पुरुषोत्तमका अंश और विशेष रूपमात्र है। निम्न प्रकृतिसे मुक्त होनेपर ही हम उस परा, भागवती, आध्यात्मिक प्रकृतिको जान सकते हैं। इसलिये आत्माधिष्ठानमें कर्म करनेका अभिप्राय वासनाबद्ध जीवके अधिष्ठानमें कर्म करना नहीं है; कारण यह वासनाबद्ध जीव परम अंतःसत्स्वरूप नहीं बल्कि अपर प्राकृत और बाह्य आभासमात्र है। निगूढ आत्मप्रकृति या स्व-भावसे कर्म करनेका अर्थ यह नहीं है कि अहंकारके काम-क्रोधादि-के वश होकर या अपनी प्राकृत प्रेरणा और त्रिगुणके चंचल खेलके अनुसार उदासीनताके साथ अथवा वासनाके साथ पाप और पुण्यका आचरण किया जाय। काम-क्रोधके वश होना, पापमें स्वेच्छासे या जड़तावश लिप्त होना न तो उच्चतम निराकार ब्रह्मकी

आध्यात्मिक शांत निष्क्रिय स्थिति पानेका ही कोई रास्ता है न इस भागवत सृष्टि-पुरुषके आध्यात्मिक कर्मका ही साधन है जो परम पुरुषके संकल्पकी सिद्धिका एक पात्र बननेको है, पुरुषोत्तमकी ही अपनी शक्ति और प्रत्यक्ष विग्रह होनेको है।

गीताने आरंभसे ही यह कह रखा है कि दिव्य जन्म अर्थात् परा स्थितिकी सबसे पहली शर्त ही यह है कि राजस काम और उसकी संततिका वध हो और इसका मतलब तो है पापका सर्वथा निराकरण। पाप है ही निम्नगा प्रकृतिकी वह क्रिया जो आत्माके द्वारा प्रकृतिको आत्म-नियत और आत्मवश करनेके विरुद्ध अपनी ही मूढ़, जड़ या आसुरी राजस और तामस प्रवृत्तियोंकी भद्दी तुष्टिके लिये हुआ करती है। निम्नगा प्रकृतिके इस निकृष्ट गुणकर्मके द्वारा आत्मसत्तापर होनेवाले इस भद्दे बलात्कारसे छूटनेके लिये हमे प्रकृतिके उत्कृष्ट गुण अर्थात् सत्वका आश्रय लेना पड़ता है, कारण सत्वगुण ही सतत समाधानसाधक ज्ञान, ज्योति और कर्मकी प्रमादरहित विशुद्ध विधिका अनुसंधान करता रहता है। हमारे अंदर जो पुरुष है, जो प्रकृतिमें रहता हुआ विविध गुणवृत्तियोंका अनुमोदन करता है, उसे यह करना पड़ता है कि वह हमारी उस सात्विक प्रेरणा, संकल्प और स्वभावको अनुमति दे जो इस प्रमादरहित विशुद्ध विधिका अनुसंधान करता रहता है। हमारी प्रकृतिमें जो सात्विक इच्छा है वह हमारा नियमन करे, राजस-तामस इच्छा नहीं। यही कर्माकर्मका संपूर्ण विवेक है और यही समस्त धार्मिक नैतिक संस्कृतिका अभिप्राय है; यही हमारे अदर प्रकृतिका वह विधान है जो प्रकृतिके अधोमुख और अस्तव्यस्त कर्मके स्तरसे उसके ऊर्ध्वमुख और सुव्यव-

स्थित कर्मके रूपमें विकसित होनेका प्रयास करता है, काम-क्रोध-क्षोभ और अज्ञानमें नहीं जिसका कि फल दुःख और अशांति है बल्कि ज्ञान और प्रकाशमें कार्य करनेका प्रयास करता है जिसका कि फल आतरिक सुख, समत्व और शांति है। जबतक हम सबसे उत्तम गुण सत्त्वके विधानको अपने अदर पहले विकसित और प्रतिष्ठित नहीं कर लेते, तबतक हम त्रिगुणके पार नहीं पहुंच सकते।

"कुकर्मी मुझे नही पा सकते जो मूढ़ है, नराधम है; क्योंकि", भगवान् कहते है कि, "मायाने उनका ज्ञान खो गया है और वे आसुर भावको प्राप्त हुए है।" यह मूढ़ता प्रकृतिस्थ जीवको मायिक अहंकारका अपने जालमें फसाना है। कुकर्मीको जो परम पुरुपकी प्राप्ति नही हो सकती उसका कारण ही यह है कि यह सदा ही मानव-प्रकृतिके निम्नतम स्तरपर रहनेवाले अपने इस प्रिय प्रातिभासिक अहंकारको ही पूजा करता है; अहकार ही इसका यथार्थ परमेश्वर बन बैठता है। उसके अंत.करणको त्रिगुणात्मिका माया अपने व्यापारमें घसीट ले जाती है और यह अंत.करण फिर इसके आत्माका करण नही रह जाता बल्कि इसकी वासनाओंका स्वेच्छासे या आत्मप्रवंचित गुलाम बन जाता है। यह तब अपनी निम्नगा प्रकृतिको ही देखता है, उस परम आत्मा और परम पुरुप या परमेश्वरको नहीं जो उसके और जगत्के अंदर है; वह सारे जगत्-प्रपंचको अपने मनमें अहंकार और कामकी भाषामें समझा करता और अहंकार और कामकी ही सेवा किया करता है। अहंकार और कामको पूजना और ऊर्ध्वमुखी प्रकृति और उच्चतर धर्मकी कोई अभीप्सा न रखना असुरके ही

मन और स्वभावको प्राप्त होना है। उत्थानकी ओर प्रथम आवश्यक सोपान ऊर्ध्वमुखी प्रकृति और उच्चतर धर्मकी अभीप्सा करना, कामाचारकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठ विधानका पालन करना, अहंकार या अहंकारके ही किसी बड़े-बड़े रूपकी अपेक्षा किसी महान् और श्रेष्ठ देवताको जानना और पूजना, सद्विचारसे युक्त होना और सत्कर्मका कर्मी बनना ही है। पर उतना ही बस नहीं है; कारण सात्विक मनुष्य भी गुणोंके चक्करमें बंधा रहता है, क्योंकि अब भी वह राग-द्वेषके द्वारा ही नियंत्रित होता है। प्रकृतिके नाना रूपोंके चक्रमें ही वह घूमता है, उसको उच्चतम, परम और समग्र ज्ञान अभी नहीं प्राप्त है। तथापि सदाचार-संबंधी अपने लक्ष्यकी ओर अपनी निरंतर ऊर्ध्वमुखीन अभीप्साके बलसे वह पापके मोहसे—जो पाप रजोगुणसे उत्पन्न काम-क्रोधसे ही उद्भूत होता है, उससे—मुक्त होता और अपनी प्रकृतिको ऐसी विशुद्ध बना लेता है कि वह उसे त्रिगुणात्मिका मायाके विधानसे छुड़ा देती है। पुण्यसे ही कोई परमको नहीं पा सकता, पर पुण्यसे[1] वह उसे पानेका अधिकार पा सकता है। कारण अव-कचरे राजस या कुंद तामस अहंकारको हटा देना और उसके ऊपर उठना बड़ा कठिन होता है; सात्विक अहंकारको हटाना या उस-के ऊपर उठना उतना कठिन नहीं और अभ्याससे जब अंतमें वह यथेष्ट रूपसे सूक्ष्म और प्रकाशयुक्त हो जाता है तब उसे पार कर जाना,

---

[1] स्पष्ट ही, सच्चे आंतरिक पुण्यसे—विचार, भाव, चित्त-वृत्ति, हेतु और आचारकी सात्विक विशुद्धि से, केवल रूढ़ि या सामाजिक रीति-रिवाजसे नहीं।

उसे रूपांतरित करना या मिटा देना भी आसान हो जाता है।

इसलिये मनुष्यको सर्वप्रथम सुकृती, सदाचारी होना चाहिये और तब आचारधर्ममें ही अटके न रहकर ऊपरकी ओर अध्यात्म-प्रकृतिके उस प्रकाश, विशालता और शक्तिकी ओर आगे बढ़ना चाहिये जहां वह द्वंद्वोंकी पकड़ और उसके मोहके परे पहुंच जाता है। वहा तब वह अपने वैयक्तिक हित या सुखकी खोज नहीं करता न अपने वैयक्तिक दुःख या पीड़ासे मुह मोड़ता है; क्योंकि वहां इन चीजोंका उसपर कोई असर ही नही पड़ता न उसके मुखसे कोई ऐसी बात ही निकलती है कि "मैं पुण्यात्मा हूं" या "मैं पापात्मा हूं"। प्रत्युत वह जो कुछ करता है, अपने ही आध्यात्मिक स्वभावमें स्थित होकर भगवदिच्छासे जगत्कल्याणके लिये करता है। यह हम देख ही चुके हैं कि इसके लिये सबसे पहले आत्मज्ञान, समत्व, निर्व्यक्तिक ब्रह्मभावका होना आवश्यक है और यह भी देख चुके हैं कि यही ज्ञान और कर्मके बीच, आध्यात्मिकता और सांसारिक कार्यके बीच, कालातीत आत्माकी अचल निष्क्रियता और प्रकृतिकी क्रियाशील शक्तिकी लीलाके बीच सामंजस्य-साधनका मार्ग है। पर अब गीता उस कर्मयोगीके लिये जिसने अपने कर्मयोगको ज्ञानयोगके साथ एक कर लिया है, एक और, इससे भी बड़ी चीजकी आवश्यकता बतलाती है। अब उससे केवल ज्ञान और कर्मकी ही मांग नही की जाती बल्कि भक्ति भी—भगवान्‌की ओर सच्ची लगन, उनकी पूजा, उनसे मिलनेकी अंतरात्माकी उत्कण्ठा भी चाही जाती है। यह माग अभीतक उतने स्पष्ट शब्दोंमें तो नही प्रकट की गयी थी, पर जब गुरुने उसके योगको इस आवश्यक साधनकी ओर फेरा था कि

सब कर्मोंको अपनी सत्ताके स्वामी श्रीभगवान्‌के लिये यज्ञरूपसे करना होगा और इसकी परिसमाप्ति इस बातमें की थी कि सब कर्मोंको केवल ब्रह्मार्पण ही नहीं बल्कि ब्रह्मभावसे परे जाकर उन सत्ताधीश्वरको समर्पित करना होगा जो हमारे सब संकल्पों और शक्तियोंके मूल कारण हैं, तभी शिष्यका मन भक्तिकी इस मांगके लिये तैयार किया जा चुका था। वहां जो बात गुप्त रूपसे अभिप्रेत थी वही अब सामने आ गयी है और इससे गीताके उद्देश्यको भी और अधिक पूर्णताके साथ हम समझ सकते हैं।

अब परस्पर-आश्रित तीन वृत्तियां हमारे सामने हैं जो हमें हमारे प्राकृत भावसे छुड़ाकर भागवत और ब्राह्म भावमें आगे बढ़ा ले जा सकती हैं। गीता कहती है, "द्वंद्वोंके मोहसे, जो राग-द्वेषसे उत्पन्न हुआ करता है, इस सृष्टिके सब प्राणी संमोहको प्राप्त होते हैं।" यही वह अज्ञान, वह अहंभाव है जो सर्वत्र भगवान्‌को देखने और आयत्त करनेमें असमर्थ रहता है, क्योंकि वह प्रकृतिके द्वंद्वोंको ही देखा करता और अपनी ही पृथक् वैयक्तिक सत्ता और उसीकी अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियोंमें सदा उलझा रहता है। इस चक्करसे छूटनेके लिये हमारे कर्ममें सबसे पहली जरूरी बात यह है कि हम प्राण-वासनामय अहंकारके पापसे, काम-क्रोधकी आगसे, रजोगुणी इच्छाके कोलाहलसे बाहर निकल आवें; यह काम बनता है अपने नैतिक पुरुषकी सात्विक प्रेरणा और संयमको दृढ़ करनेसे। जब यह काम हो चुकता है (**येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्**), अथवा यह कहिये कि जब यह काम होता रहता है तभी—क्योंकि सात्विक वृत्तिके एक हदतक बढ़नेके बाद ही विलक्षण शांति, समता और त्रिगुणातिक्रम-

की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है—यह जरूरी होता है कि द्वंद्वोंके ऊपर उठकर निर्व्यक्तिक, सम, अक्षर ब्रह्मके साथ एक, सब भूतोंके साथ एकीभूत आत्मा होनेका अभ्यास किया जाय। आत्म-स्वरूपको प्राप्त होनेके इस अभ्यासक्रमसे शुद्धिकी पूर्णता होती है। पर जिस समय यह किया जा रहा हो, जब जीव इस प्रकार आत्मज्ञानकी विशालताको अधिकाधिक प्राप्त हो रहा हो, उसी समय उसके लिये अपना भक्तिभाव भी बढ़ाना आवश्यक होता है। कारण उसे केवल समताकी विशालतामें स्थित होकर ही कर्म नहीं करना है, बल्कि भगवान्‌के लिये यज्ञकर्म भी करना है, उन सर्वभूतस्थित भगवान्‌के लिये जिन्हें वह अभी पूर्ण रूपसे नहीं जानता, पर पीछे जानेगा, समग्र रूपसे 'समग्रं माम्' जानेगा जब उसे सर्वत्र और सब भूतोंमें उसी एक आत्माके सतत दर्शन होंगे। समत्वकी स्थिति और सर्वत्र एक आत्माको देखनेकी दृष्टि जहां एक बार पूर्णरूपेण प्राप्त हो गयी, जहां इस प्रकार "द्वंद्वमोह-विनिर्मुक्ताः" हो गये, वहां परा भक्ति, भगवान्‌के प्रति सर्वभावेन प्रेमभक्ति ही जीवका संपूर्ण और एकमात्र धर्म बन जाती है। "सर्वधर्मान्परित्यज्य"—अन्य सब धर्म उसी एक शरणागतिमें मिल जाते हैं। तब जीव इस भक्तिमें तथा अपनी संपूर्ण सत्ता, ज्ञान और कर्मके आत्मोत्सर्गके व्रतमें दृढ़ होता है; क्योंकि अब उसे सबके प्रभवके मूल कारण भगवान्‌का सिद्ध, समग्र और एकीभाव उत्पन्न करनेवाला ज्ञान अपनी सत्ता और कर्मके सुदृढ़ आधार और स्वतःसिद्ध नींवके रूपसे प्राप्त होता है, "ते भजन्ते मां दृढव्रताः"।

सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान और निर्व्यक्तिक भाव प्राप्त हो चुकनेके पश्चात् जीवका भक्तिकी ओर लौट आना या

चित्तकी वृत्तियोंका बना रहना जीवदशामें ही लौट आना मालूम हो सकता है। कारण भक्तिका प्रवर्त्तक भाव तो परम पुरुष और विश्वात्माके प्रति व्यष्टि-जीवका ही प्रेम और पूज्यभाव हुआ करता है, अतः भक्तिमें व्यक्तित्वका भाव, यहांतक कि उसकी बुनियाद भी सदा हुआ ही करती है। परंतु यह आपत्ति गीता-की दृष्टिमें जरा भी नहीं आ सकती, क्योंकि गीताका लक्ष्य नैष्कर्म्यको प्राप्त होना और सनातन निर्व्यक्तिक सत्तामें लीन हो जाना नहीं प्रत्युत सर्वात्मभावसे पुरुषोत्तमके साथ एक होना है। इस योगमें जीव निश्चय ही अपनी निर्व्यक्तिक अक्षर आत्मसत्ता-को प्राप्त कर अपने निम्न व्यक्तित्वसे मुक्त हो जाता है; पर फिर भी वह कर्म करता है और सारा कर्म क्षर प्रकृतिमें स्थित समष्टि जीवका होता है। अत्यधिक नैष्कर्म्यकी कल्पनाके शोधन-के लिये यदि हम परम पुरुषके प्रति यज्ञके भावको न ले आवें तो कर्मको हमें कोई विजातीय पदार्थ ही मानना होगा, यह सम-झना होगा कि यह गुणोंके ही खेलका अवशेष है—इसके पीछे कोई दिव्य सत्य नहीं, समझना होगा कि अहंकार या अहंभावका ही यह रहा-सहा नाशोन्मुख अंतिम रूप है, निम्नगा प्रकृतिकी गतिका ही पहलेसे चला आया हुआ एक वेगमात्र है जिसके लिये हम जिम्मेदार नहीं क्योंकि हमारा ज्ञान इसे अस्वीकार करता और इससे निकलकर विशुद्ध नैष्कर्म्यको प्राप्त होना चाहता है। परंतु एकमेव आत्माकी प्रशांत अपरिच्छिन्न ब्राह्मी स्थितिको परमेश्वरके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले प्रकृतिके कर्मोंके साथ एक करनेसे, इस एकीभूत द्विविध उपायकी कुंजीसे हम निम्नगा प्रकृतिके अहंभाव-विशिष्ट व्यक्तित्वसे मुक्त होते हैं और साथ ही अपने सच्चे

आत्मिक व्यष्टिभावकी पवित्रताको प्राप्त होते जाते है। तब हम निम्नगा प्रकृतिमें बद्ध अज्ञ अहं नही रह जाते बल्कि अपनी परा प्रकृतिमें स्थित मुक्त जीव हो जाते है। तब हमारा रहना इस ज्ञानमे नही होता कि अक्षर निर्व्यक्तिक ब्रह्म और यह क्षर बहुविध प्रकृति ये दोनो परस्पर-विरोधी सत्ताए है, बल्कि हम उन पुरुषोत्तम-के साक्षात् समालिंगनको प्राप्त हो जाते है जो हमारे स्वरूपको इन दोनों ही शक्तियोंद्वारा एक साथ ही उपलब्ध होते है। ये तीनों ही आत्मा है और जो दो देखनेमें परस्पर-विरुद्धसे लगते है उस तीसरेके आमने-सामनेके पार्श्वमात्र है जो इन दोनोसे उत्तम है। भगवान् आगे चलकर स्वयं ही कहते है, "क्षर और अक्षर दो पुरुष है पर एक अन्य पुरुष है जो उत्तम है, जिसे परमात्मा' कहते है जो अव्यय ईश्वर है और तीनो लोकोमे प्रवेश कर उनका पालन करता है। मै ही क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम वह पुरुषोत्तम हूं। जो मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वही संपूर्ण ज्ञान और सपूर्ण भावके साथ मेरी भक्ति करता है।" संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण आत्मसमर्पणवाली इस भक्तिका ही अब गीतामें आगे विस्तार होता है।

यह बात ध्यानमें रहे कि गीता शिष्यसे जिस भक्तिकी अपेक्षा करती है वह ज्ञानयुक्त भक्ति है और अन्य जो कोई भी भक्तिके प्रकार है उन्हें गीता अच्छा समझती हुई भी इस ज्ञानयुक्त भक्ति-की अपेक्षा कनिष्ठ ही जानती है; भक्तिके उन अन्य प्रकारोसे लाभ हो सकता है, पर जीवके परमोत्कर्षमे वे गीताके अनन्य लक्ष्य नही है। जिन लोगोने राजस अहंकारके पापको अपनी प्रकृतिसे हटा दिया है और जो भगवान्की ओर आगे बढ़ रहे है

उनमें गीताने चार प्रकारके भक्तोंके भेद किये हैं। कोई भक्त ऐसे होते हैं जो संसारके दुःखों और क्लेशोंसे बचनेके लिये उनका आश्रय ढूंढते हैं, वे "आर्त्त" हैं। कोई उनका आश्रय ऐहिक कल्याणके लिये ढूंढते हैं, वे "अर्थार्थी" हैं। कोई ज्ञानकी इच्छासे उनके समीप जाते हैं, वे "जिज्ञासु" हैं। और फिर कोई ऐसे भी हैं जो उन्हें जानकर उन्हें पूजते हैं, वे "ज्ञानी" हैं। ये सभी भक्त गीताको स्वीकार हैं, पर उसकी पूर्ण सम्मतिकी छाप तो अंतिम प्रकारके भक्तपर ही लगी है। भक्तिके ये सभी प्रकार निश्चय ही उत्तम हैं, "उदाराः सर्व एवैते", परंतु ज्ञानयुक्त भक्ति ही इन सबमें विशेष है, "विशिष्यते"। हम ऐसा कह सकते हैं कि भक्तिके ये चार प्रकार क्रमशः ये हैं कि प्रथम तो प्राणगत भावप्रवण प्रकृतिकी भक्ति है,[1] द्वितीय व्यावहारिक कर्मप्रवण प्रकृतिकी, तृतीय तर्कप्रधान बुद्धिवादिनी प्रकृतिकी और चतुर्थ उस परम अंतर्ज्ञानमय सत्ताकी भक्ति है जो शेष सारी प्रकृतिको भगवान्‌के साथ एकत्वकी प्राप्तिकी ओर अपने संग लिये चलती है। भक्तिके अंतिम प्रकारको छोड़ अन्य जितने प्रकार हैं वे वस्तुतः प्रारंभिक प्रयास ही माने जा सकते हैं। कारण गीता स्वयं ही यहां यह कह देती है कि अनेकों जन्म बितानेके बाद ही कोई समग्र ज्ञानको पाकर तथा जन्म-जन्म उसे अपने जीवनमें उतारनेका साधन कर अंतमें परमको प्राप्त होता है। कारण यह जो कुछ

---

[1] उत्तरकालीन परमभावकी भक्ति मूलतः हृत्प्रकृतिकी ही वस्तु है। केवल इसके कनिष्ठ रूप और कोई-कोई बाह्य भाव ही प्राणगत भावुकताके द्योतक हैं।

है सब भगवान् है यह ज्ञान पाना बड़ा कठिन है और वह महात्मा पृथ्वीपर कोई विरला ही होता है जो 'सर्ववित्' हो—सब कुछके अंदर भगवान्‌को देख सकता हो और उस सर्वसंग्राहक ज्ञानकी वैसी ही व्यापक शक्तिसे अपनी संपूर्ण सत्ता और अपनी प्रकृतिकी सब वृत्तियोंके साथ, 'सर्वभावेन' उनमें प्रवेश कर सकता हो।

अब यह शंका उठ सकती है कि जो भक्ति केवल ऐहिक अर्थोंके लिये भगवान्‌को ढूंढती अथवा जो दुःखशोकसे छूटनेके लिये उनका आश्रय लेती है और भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को नहीं चाहती वह 'उदार' कैसे कहला सकती है? ऐसी भक्तिमें क्या अहंकारिता, दुर्बलता और वासना-कामना ही प्रधान नहीं रहती और इसलिये क्या इसे निम्नगा प्रकृतिकी ही चीज नहीं समझना चाहिये? फिर, जहां ज्ञान नहीं वहां भक्त "वासुदेवः सर्वमिति" इस समग्र सर्वव्यापी सत्यको जानकर भगवान्‌की ओर नहीं जाता बल्कि भगवान्‌के ऐसे अधूरे नाम और रूप गढ़ता है जो उसकी अपनी ही आवश्यकता, मनोदशा और प्रकृतिके प्रतीकमात्र होते हैं और इन्हींको वह इसलिये पूजता है कि ये उसकी प्राकृत लालसाओंमें सहायक हों या उन लालसाओंको पूर्ण करें। वह इस भगवान्‌के इंद्र, अग्नि, विष्णु, शिव, देवभूत ईसा या बुद्ध आदि नाम-रूप गढ़ा करता है अथवा यह कल्पना किया करता है कि भगवान् प्राकृत गुणोंका कोई समुच्चय अथवा कोई दयामय और प्रेममय ईश्वर या कोई सत्यपरायण और न्यायकारी अति कठोर देवता या क्रुद्ध, भयानक और दण्डधर कालानल-स्वरूप कोई महादेव या इनमेंसे कुछ गुणोंके समुच्चय-स्वरूप कोई परमेश्वर हैं और बाहर और अंतःकरणमें उसीकी वह वेदी तैयार करता और उसे ही साष्टांग प्रणाम करता

और उससे ऐहिक सुख और भोग या अपने घावोंका भरा जाना या अपने प्रमादयुक्त, स्वमताग्रहपूर्ण, बौद्धिक, असहिष्णु ज्ञानका साम्प्रदायिक समर्थन जैसी चीजें ही मांगा करता है। यह सब एक हदतक सही है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है जो यह जानता हो कि सर्वव्यापी वासुदेव ही यह सब कुछ है, **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।** मनुष्य नाना प्रकारकी बाहरी इच्छाओंके वशीभूत होते हैं और ये इच्छाएं उनके अंतर्ज्ञानकी क्रिया हर लेती है, **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।** वे अज्ञानवश अन्य देवताओंकी, अपनी इच्छाके अनुकूल भगवान्‌के अपूर्ण रूपोंकी शरण लेते हैं, **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।** वे अपनी संकीर्णतावश तत्तद् देवताका एक-न-एक विधि-नियम और आचार-विचार स्थापित कर लेते हैं और इससे उनकी प्रकृतिकी आवश्यकता पूरी होती है, **तं तं नियम-मास्थाय।** और इस सबमें उनका अपना अदम्य वैयक्तिक निर्णय ही उन्हें चलाता है, वे अपनी प्रकृतिकी इस तंग आवश्यकताके पीछे ही चलते है और उसीको परम सत्य मान लेते है, क्योंकि अभीतक उनमें अनंतकी व्यापकताको ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं होती। इन रूपोंमें भगवान् उन्हें उनके इष्ट भोग अवश्य प्रदान करते है यदि उनका विश्वास पूर्ण होता है, परंतु ये भोग क्षणिक होते है और केवल क्षुद्र बुद्धि और अविवेकवश ही लोग इन भोगोंका पीछा करना अपने धर्म और जीवनका उसूल बना लेते है। और इस तरहसे जो कुछ भी आध्यात्मिक लाभ होता है वह देवताओंकी ओर ही ले जानेवाला होता है; क्षर प्रकृतिके नानाविध रूपोंमें स्थित भगवान्‌को, जो कर्मफलका विधान करते हैं, उतने ही अंशसे वे अनुभव करते है। पर जो लोग

कृतिसे अधीन समग्र भगवान्‌को पूजते हैं वे यह सब ग्रहण करते और इसे दिव्य बना लेते हैं, देवताओंको उनके परम स्वरूपतक, प्रकृतिको उसके शिखरतक बढ़ा ले जाते और उनके परे परमेश्वर-तक पहुंचते हैं, परम पुरुष भगवान्‌का साक्षात्कार करते और उन्हें प्राप्त होते हैं, "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।"

तथापि उन भक्तोंकी दृष्टि अपूर्ण होनेके कारण भगवान् उन-का कभी परित्याग नहीं करते। कारण भगवान् अपने परात्पर परम स्वरूपमें जैसे हैं,—अज, अव्यय और इन सब अगभूत रूपोंसे श्रेष्ठ,—अनायास किसी प्राणीकी समझमें आनेवाले नहीं। वे माया-के इस घने पटलसे, अपनी उस योगमायासे अपने-आपको ढके हुए हैं जिस योगमायाके द्वारा वे जगत्‌के साथ एक और फिर भी उसके परे हैं, अंतर्यामी हैं पर छिपे हुए, सबके हृदयोंमें अव-स्थित हैं पर हर किसीपर प्रकट नहीं। प्रकृतिमें स्थित मनुष्य यह समझता है कि प्रकृतिमें दृश्यमान ये सब पदार्थ भगवान् ही हैं जब कि यथार्थमें ये सब उनके केवल कार्य, शक्तियां और आवरण-मात्र हैं। भगवान् भूत, वर्तमान और भविष्यकी सभी वस्तुओं-को जानते हैं पर उन्हें कोई नहीं जानता। इस कारण यदि प्रकृतिमें अपनी क्रियाके द्वारा सब प्राणियोंको इस प्रकार भरमा-कर वे इन सब पदार्थोंके अंदर उन्हें दर्शन न दें तो मायामें बद्ध किसी मनुष्य या जीवके लिये कोई दिव्य आशा नहीं रह जायगी। इसीलिये इन भक्तोंकी प्रकृतिके अनुसार, जैसे भी ये भगवान्‌की ओर चलते हैं वैसे ही, भगवान् इनकी भक्तिको ग्रहण करते और भागवत प्रेम और करुणा बरसाकर उनकी पुकारका उत्तर देते हैं। ये रूप हैं भी तो आखिर उन्हींका एक ऐसा आविर्भाव जिस-

मेंसे होकर प्रमादशील मानवी बुद्धि उनका स्पर्श पा सकती है; ये कामनाएं ही वह प्रथम साधन बन जाती है जिससे हमारे हृदय उनकी ओर फिरते है। और फिर किसी प्रकारकी भक्ति चाहे वह कितनी ही संकुचित और मर्यादित क्यो न हो, बेकार नहीं होती। इसकी एकमात्र महती आवश्यकता है श्रद्धा-विश्वास। भगवान् कहते है, "श्रद्धाके साथ जो कोई भक्त मेरे जिस किसी रूपको पूजना चाहता है, मैं उसकी वह श्रद्धा उसीमें अचल बना देता हू।" अपने मतवाद और उपासनाकी उस श्रद्धाके बलसे वह अपनी इच्छा पूर्ण करा लेता और उस आध्यात्मिक अनुभूतिको लाभ करता है जिसका कि उस समय वह अधिकारी होता है। अपना सर्वविध कल्याण भगवान्से मांगता हुआ वह अंतमें भगवान्को ही अपना सर्वविध कल्याण जानने लगता है। अपने सब सुखोंके लिये भगवान्पर निर्भर होकर वह अपने सब सुखोंको भगवान्पर ही केंद्रीभूत करना सीख लेता है। भगवान्को उनके रूपों और गुणोसे जानकर वह उन्हें उस समग्र और परम रूपमें जानेगा जो सबका मूल है।[1]

---

[1]परमकी प्राप्तिके पश्चात् भी आर्त्त आदि त्रिविध कनिष्ठ भक्तिभावोंके लिये अवकाश रहता है, अवश्य ही तब ये भाव संकीर्ण और वैयक्तिक नही होते बल्कि दिव्यतामें परिणत हुए होते है; कारण परमकी प्राप्तिके बाद भी यह प्रबल इच्छा बनी रह सकती है कि इस प्राकृत जगत्से दुःख, दुष्कर्म और अज्ञान दूर हो और परम कल्याण, शक्ति, आनंद और ज्ञानका इसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास और पूर्ण प्राकट्य हो।

इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिके साथ-साथ भक्ति ज्ञानके साथ एक हो जाती है। जीव भगवान्‌में रति लाभ करता है, उन्हें अखिल सत्, चित् और आनंदस्वरूप जानता है, सब पदार्थों, प्राणियों और घटनाओंमें उन्हींको अनुभव करता है, प्रकृतिमें, पुरुषमें, उन्हींको देखता और प्रकृति और पुरुषके परे उन्हींको जानता है। वह "नित्ययुक्त" है, सतत भगवान्‌के साथ युक्त है; उसका संपूर्ण जीवन और उसकी सत्ता उन परमके साथ सनातन योगसे युक्त है जिनके परे, जिनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, उन विश्वात्माके साथ युक्त है जिनके अतिरिक्त और कोई नहीं, कुछ भी नहीं। वह "एकभक्तिः" है, उसकी सारी भक्ति उन्हीं एकपर केंद्रीभूत है, किसी आंशिक देवता, विधि-विधान या संप्रदायपर नहीं। उसके जीवनका संपूर्ण और एकमात्र नियम अनन्य भक्ति है, वह सब धार्मिक मतमतांतरों, आचारों और जीवनके वैयक्तिक उद्देश्योंको पार कर चुका है। कोई दुःख उसके नहीं है जो उसे दूर करने हों, क्योंकि सर्वानंदमय परमात्माको वह पा चुका है। कोई इच्छाएं उसकी नहीं है जिनके पीछे वह भटकता फिरे, क्योंकि वह उसे पा चुका है जो सबसे ऊंची चीज है, जो सब कुछ है, और सदा समीप है उस सर्व-शक्तिके जो संपूर्णताकी देनेवाली है। उसे न कोई शंका है न कोई अटक-भटक है, क्योंकि सारा ज्ञान उसपर उस ज्योतिसे प्रवाहित हुआ करता है जिस ज्योतिमें वह स्वयं रहता है। वह सर्वात्मना भगवान्‌से प्रेम करता और भगवान्‌का प्यारा होता है; कारण, जैसे उसे भगवान्‌से आनंद मिलता है वैसे ही भगवान् भी उससे आनंद लाभ करते है। यही वह भगवत्प्रेमी है जो ज्ञानसे युक्त है, 'ज्ञानी भक्त' है। और यह

ज्ञानी, गीतामें भगवान कहते हैं कि, "मेरा आत्मा है"; अन्य भक्त भगवान्के केवल प्रकृतिगत भाव और स्वरूप ग्रहण करते हैं और वह उन पुरुषोत्तमके निज स्वरूप और समग्र स्वरूपको ही ग्रहण करता है जिनके साथ वह एक हो जाता है। उसीका परा प्रकृतिमें दिव्य जन्म होता है—स्वरूपसे समग्र, संकल्पमें पूर्ण, प्रेममें अनन्य, ज्ञानमें सिद्ध। उसीमें जीवका ऐहिक जीवन चरितार्थ होता है, कारण वह अपने-आपको ही पार कर जाता और इस तरह अपने ही संपूर्ण और परम सत्य स्वरूपको प्राप्त होता है।

३

परम ईश्वर*

सातवें अध्यायमें जो कुछ कहा जा चुका उसने हमारी नवीन और पूर्णतर भूमिकाका उपक्रम हो जाता है और इसकी असंदिग्धता भी यथेष्ट रूपसे स्थापित हो जाती है। तात्पर्यरूप-से बात यह आती है कि हमें अंतर्मुख होकर एक महान् चैतन्य और एक परम भावकी ओर, विश्व प्रकृतिका सर्वथा त्याग करके नहीं बल्कि हम इस समय वास्तविक रूपसे जो-जो कुछ है उसकी उच्चस्तरीण अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णता साधित करके, चलना है। हमारी मर्त्य जीवनकी जो अपूर्णता है उसीको परिवर्तित कर हमें स्वरूपकी दिव्य पूर्णता सिद्ध करनी है। इस पूर्णताकी संभावना जिस भावनाके आधारपर की जाती है वह प्रथम भावना यही है कि मनुष्यके अंदर यह जो व्यष्टि-जीव है वह अपने सनातन स्वरूप और मूल शक्तिके हिसाबसे परमात्मा परमेश्वर-की ही एक किरण है और उसीका यहां एक समावृत आविर्भाव

---

*गीता अ. ७–२९, ३०; अ. ८

है, उसीकी सत्ताका एक सत्स्वरूप, उसीके चिद्भावका एक चिद्भाव और उसीके स्वभावका एक स्वभाव है, पर इस मनोमय और अन्नमय जगत्के अंधकारमें, अपने उद्गम और अपने सत्स्वरूप और अपने सत्स्वभावको भूला हुआ है। दूसरी भावना है तन-मन-प्राण-रूपसे आविर्भूत जीवकी द्विविध प्रकृतिकी—एक है मूल प्रकृति जिसमें यह जीव अपने वास्तविक आत्मस्वरूपके साथ एक है, और दूसरी है निम्न प्रकृति जिसमें यह अहंकार और अज्ञानकी अनर्थ-परंपराके अधीन है। इस दूसरीको त्याग-कर अंतर्मुख होकर असली अध्यात्म-प्रकृतिको प्राप्त करना, उसको पूर्ण करना, उसे सशक्तिक और कर्मशील बनाना होता है। एक आंतरिक आत्मपूर्णता, एक नवीन स्वरूप-स्थिति प्राप्त कर, एक नयी शक्तिमें जन्म लेकर हम अध्यात्म-प्रकृतिमें लौट आते और फिरसे उन परमेश्वरका एक अंश बनते हैं जिनसे हम इस मर्त्य शरीरमें आये हैं।

यहां अब यह बात आयी जो उस समयके प्रचलित भारतीय विचारसे कुछ दूसरी ही बात है, यह उतनी निषेधात्मक नहीं बल्कि विशेष रूपसे अस्तिपक्षको लेकर है। ब्रह्मसत्ताकी अनुभूति होनेपर प्रकृतिके कुछ भी न रह जानेकी जो कल्पना अभी बद्ध-मूल-सी हो बैठी है उसके एक ऐसे समाधानकी झलक यहां हमें मिलती है जो उससे कहीं अधिक प्रशस्त है, यह चीज है परा प्रकृति जो जीवरूपसे जगत्में अपनी परिपूर्णता साधित करती है। गीताके बहुत काल पीछे भक्ति-संप्रदायोंकी जो वृद्धि हुई उसका यह, कम-से-कम, पूर्वरंग भी है। हमें अपनी इस प्राकृत अवस्थाके परे, जिस अहंभावापन्न सत्तामें हम रहते हैं उसके पीछे छिपी

हुई, जिस सत्ताकी प्रथम अनुभूति होती है वह सत्ता गीताके मत-में भी वही महान् निरहं अक्षर अचल ब्रह्म-सत्ता है जिसकी समता और एकताके अंदर हमारा क्षुद्र अहंकारगत व्यष्टिभाव लीन हो जाता है और उसकी प्रशांत पवित्रताके अंदर हमारी सब क्षुद्र कामना-वासनाएं छूट जाती है। परंतु इसके उपरांत उससे पूर्ण-तर जो दूसरी अनुभूति होती है उसमें हमारे सामने वे अनंत भग-वान् सगवितक रूपसे प्रकट होते है जिनकी सत्ता अपरिमेय है, जिनसे ही हम जो कुछ भी है निकले है और जिनके ही है सदा जो कुछ भी है, पुरुष भी प्रकृति भी, जगत् भी और ब्रह्म भी। आत्मामें जब हम उनके साथ एक होते है तो अपने-आपको खो नहीं देते बल्कि अनंतकी महामहिम परम सत्ताके अंदर स्थित अपने वास्तविक स्वरूपमें आ जाते हैं। यह काम एक साथ तीन क्रियाओंके द्वारा होता है—(१) भगवान्की तथा अपनी परा प्रकृतिकी बुनियादपर अपने सब कर्मोंको करना और उनके द्वारा अपने पूर्ण स्वरूपका साक्षात्कार करना, (२) जिन भगवान्में यह सब कुछ है और जो स्वयं सब कुछ है उनको जानकर अपने स्वरूपको पूर्ण रूपसे प्राप्त होना, और (३)—जो सबसे अमोघ और परम समर्थ क्रिया है—अपने कर्मोंके अधीश्वर, अपने हृदय-निवासी, अपने समग्र जाग्रत् जीवनके आधार इन समग्र और परम-की ओर आकर्षित होकर सर्वभावसे प्रेम और भक्तिके द्वारा अपने-आपको इन्हें समर्पित कर देना। हम जो कुछ हैं उसके जो मूल है उन्हीको यह जो कुछ हम है समर्पित कर देते हैं। हमारे सतत समर्पण-कर्मसे हम जो कुछ जानते है वह सब उन्हीका ज्ञान और हमारा संपूर्ण कर्म उन्हींकी शक्तिकी ज्योति हो जाता है।

हमारे आत्मसमर्पणमें जो वेगवान् प्रेमप्रवाह होता है वह हमें उन्हींके पास ले जाता और उनके स्वरूपका गभीरतम मर्म हमारे सामने खोलकर रख देता है। प्रेम यज्ञके त्रिसूत्रको पूर्ण करता और "उत्तमं रहस्यम्" को खोलनेकी त्रिविध कुंजीको पूर्ण रूपसे गढ़ लेता है।

हमारे आत्मसमर्पणमें समग्र ज्ञानका होना उसकी कार्यक्षम शक्तिकी पहली शर्त है। और इसलिये हमें सबसे पहले इस पुरुषको "तत्त्वतः" अर्थात् इसकी भागवत सत्ताकी सब शक्तियों और तत्त्वोंके रूपसे, इसके संपूर्ण सामंजस्यके रूपसे, इसके सनातन विशुद्ध स्वरूप तथा जीवनलीलाके रूपसे जानना होगा। परंतु प्राचीन मनीषियोंकी दृष्टिमें इस तत्त्वज्ञानका सारा मूल्य बस इस मर्त्य जगत्से मुक्त होकर एक परम जीवनके अमृतत्वको प्राप्त करनेकी साधनामें ही था। इसलिये गीता अब यह बतलाती है कि यह मुक्ति भी, इस मुक्तिकी परमावस्था भी किस प्रकार गीताकी अपनी आध्यात्मिक आत्मपरिपूर्णताकी साधनाका एक परम फल है। यहां गीताके कथनका यही आशय है कि पुरुषोत्तमका ज्ञान ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान है। जो मुझे अपनी दिव्य ज्योति, अपना उद्धारकर्त्ता, अपनी अंतरात्माओंको ग्रहण और धारण करनेवाला मानकर मेरी शरण लेते हैं (माम् आश्रित्य)—जो जरा-मरणसे, मर्त्य जीवन और उसकी परिच्छिन्नताओंसे मुक्त होनेके लिये मेरा आश्रय कर साधन करते हैं वे, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, तद्ब्रह्मको, संपूर्ण अध्यात्म-प्रकृति और अखिल कर्मको जान लेते हैं। और चूंकि वे मुझे जानते हैं और साथ ही जीवकी अपरा और परा प्रकृति तथा यज्ञस्वरूप इस जगत्कर्मके स्वामी-

के होनेकी सत्यताको जानते हैं, वे इस भौतिक जीवनसे प्रयाण करनेके संधिक्षणमें भी मेरा ज्ञान रखते हैं और उस क्षणमें उनकी संपूर्ण चेतना मेरे साथ एक हो जाती है। अतः वे मुझे प्राप्त होते हैं। मृत्यु-संसार-सागरसे निकलकर वे उस परब्रह्म-पदको उतनी ही सफलताके साथ लाभ करते हैं जितनी कि वे लोग जो अपने पृथक् व्यष्टिभावको निर्गुण अक्षर ब्रह्ममें घुला-मिला देते हैं। इस प्रकार गीताका यह महत्त्वपूर्ण और निश्चयात्मक सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

यहां कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये हैं जो संक्षेपसे जगद्-रूपमें भागवत आविर्भावके प्रधान मूलभूत सत्योंका परिचय कराते हैं। इनके सभी कारणभूत और कार्यभूत पहलू यहां मौजूद हैं, वह सारी चीज मौजूद है जिसका जीवको संपूर्ण आत्मज्ञानकी ओर फिर आनेमें काम पड़ता है। सबसे पहले है 'तद्ब्रह्म'; दूसरा है अध्यात्म अर्थात् प्रकृतिमें स्थित आत्मतत्त्व; इसके बाद हैं 'अधिभूत' और 'अधिदैव' अर्थात् आत्मसत्ताके इदं और अहं पदार्थ; अंतमें है अधियज्ञ अर्थात् विश्वकर्म और यज्ञका गूढ़ तत्त्व। फिर इन सबके ऊपर जो 'मैं' हूं 'पुरुषोत्तम' उस मुझको इन सबमें हो-कर और इन सबके परस्पर-संबंधोंके द्वारा ढूंढ़ना और जानना होगा (मां विदुः)—यही उस मानवचैतन्यके लिये एकमात्र सर्वांग-पूर्ण पथ है जो मेरे पास लौट आना चाहता है। यही श्रीकृष्णके कथनका यहां अभिप्राय है। परंतु इन पारिभाषिक शब्दोंसे ही यह बात प्रथमतः सर्वथा स्पष्ट नहीं होती या यह कहिये कि इनसे भिन्न-भिन्न अर्थ भी निकल सकते हैं; इसलिये इनका इस प्रसंगमें वास्तविक अभिप्राय क्या है उसे स्पष्ट करा लेनेके लिये शिष्य

अर्जुनने प्रश्न किया है। उस प्रश्नका उत्तर भगवान् अति संक्षेप-से देते हैं—गीताने कहीं भी केवल दार्शनिक दृष्टिसे किसी बात-की व्याख्या बहुत विस्तारसे की भी नहीं है, जहां कहीं भी उसने बात उतनी ही बतलायी है और इस ढंगसे बतलायी है कि जीव उस तत्त्वको ग्रहण मात्र कर ले और उसे स्वानुभवसे ही जानने-की ओर आगे बढ़े। तद्ब्रह्म पद उपनिषदोंमें भूतभावके विपरीत स्वतःसिद्ध सद्वस्तुके बोधनार्थ वारंवार प्रयुक्त हुआ है, गीतामें यहां इस पदसे 'अक्ष ं परमम्' अर्थात् उस अक्षर ब्रह्मसत्ताका अभि-प्राय मालूम होता है जो भगवान्का परम आत्मप्रकाश है और जिसकी अविकार्य सनातनी सत्ताके ऊपर ही यह सारा जगत् जो चल है और विकसनशील है, ठहरा हुआ है। अध्यात्मसे अभि-प्राय है 'स्वभाव'का अर्थात् उस चीजका जो परा प्रकृतिमें जीवका आत्मगत भाव और विधान है। 'कर्म' गीता कहती है कि 'विसर्ग'का नाम है अर्थात् उस सृष्टि-प्रेरणा और शक्तिका जो इस आदि मूलगत स्वभावसे सब चीजोंको बाहर छोड़ती है और उस स्वभावके ही प्रभावसे प्रकृतिमें सब भूतोंकी उत्पत्ति, सृष्टि और पूर्णता साधित करती है। 'अधिभूत'से अभिप्राय है 'क्षर भाव' का अर्थात् परिवर्तनकी सतत क्रियाके परिणामका। 'अधिदैव'से वह पुरुष, वह प्रकृतिस्थ अंतरात्मा अर्थात् वह अहंपदवाच्य जीव अभिप्रेत है जो अपनी मूलसत्ताके इस समूचे क्षरभावको, जो प्रकृतिमें कर्मके द्वारा साधित हुआ करता है, अपनी चेतनाके विषय-रूपसे देखता और भोग करता है। 'अधियज्ञ' से, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, 'मैं' स्वयं अभिप्रेत हूं—मैं अर्थात् अखिल कर्म और यज्ञके प्रभु, भगवान्, परमेश्वर, पुरुषोत्तम जो यहां

इन सब देहधारियोंके शरीरके अंदर गुप्त रूपसे विराजमान है। अतः जो कुछ भी है वह सब इस एक सूत्रके अंदर आ जाता है।

इस संक्षिप्त विवरणके पश्चात् गीता तुरंत ही ज्ञानसे परम मोक्ष प्राप्त होनेकी भावनाका विवेचन करनेकी ओर अग्रसर होती है जिसका निर्देश पूर्वाध्यायके अंतिम श्लोकमें किया गया है। गीताका जो अपना विचार है उसकी ओर वह फिर आवेगी और वह परतर प्रकाश देगी जो कर्म और आंतरिक अनुभूतिके लिये आवश्यक है और इन उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दोंद्वारा जो चीज सूचित होती है उसके पूर्णतर ज्ञानके लिये हम तबतक प्रतीक्षा करें। पर आगे बढ़नेके पूर्व यह आवश्यक है कि इन वस्तुतत्त्वोंके बीच जो परस्पर-संबंध है उसे हम उतना स्पष्ट रूपसे देख लें जितना कि इस श्लोकसे तथा इसके पूर्व जो कुछ कहा गया है उससे समझ सकते हैं। कारण, यहां विसर्गका जो क्रम है उसके संबंधमें ही गीताने अपना अभिप्राय सूचित किया है। इस क्रममें सर्वप्रथम ब्रह्म अर्थात् परम, अक्षर, स्वतःसिद्ध आत्मभाव है; देश-काल-निमित्तमें होनेवाले विश्वप्रकृतिके क्रीड़नके पीछे सर्वभूत यही ब्रह्म है। उस आत्मसत्तासे ही देश, काल और निमित्तकी सत्ता है और उस अविकार्य सर्वस्थित परंतु फिर भी अविभाज्य आश्रय-के बिना देश, काल, निमित्त अपने विभाग और परिणाम और मान निर्माण करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकते। परंतु अक्षर ब्रह्म स्वतः कुछ नहीं करता, किसी कार्यका कारण नहीं होता, किसी बातका विधान नहीं करता; वह है निष्पक्ष, सम और सर्वाश्रय-भूत; पर क्या हो, क्या न हो इसका कोई विवेक नहीं करता न किसी बातको अपने संकल्पसे उत्पन्न ही करता है। तब यह

संकल्प करनेवाला, विधि-विधान करनेवाला कौन है, परमकी वह दिव्य प्रचोदना देनेवाला कौन है? कर्मका नियामक कौन है और कौन है जो सनातन सद्वस्तुसे कालके अंदर इस विश्व-लीलाको प्रकट करता है? यह है प्रकृति 'स्वभाव' रूपसे। परम, परमेश्वर, पुरुषोत्तम अपनी सत्तासे हैं ही और वे ही अपनी सनातन अक्षर सत्ताके आधारपर अपनी परा आत्मशक्तिके कार्यको धारण करते हैं। वे अपनी भागवती सत्ता, चैतन्य, शक्ति प्रकट करते हैं—ययेदं धार्यते जगत्; वही परा प्रकृति है। इस परा प्रकृतिमें रहनेवाले आत्माका जो स्वात्मबोध है, वह, आत्मा जो कुछ अपनी सत्ताके अंदर अपने सम्मुख पृथक् करके रखता और स्वभावरूपसे अर्थात् जीवकी आध्यात्मिक प्रकृतिके रूपसे प्रकट करता है उसकी क्रियात्मिका भावना तथा उसके वास्तविक सत्यको स्वात्मज्ञानके प्रकाशमें देखता है। प्रत्येक जीवका जो स्वगत सत्य और आत्मतत्त्व है जो स्वयं अपनी क्रियाके द्वारा बाह्य रूपमें व्यक्त होता है, जो सबके अंदर मूलभूत भागवत प्रकृति है जो सब प्रकारके परिवर्तनों, विपर्ययों और पुनर्भवोंके पीछे सदा बनी रहती है, वही स्व-भाव है। स्वभावमें जो कुछ है वह उसमेंसे विश्व-प्रकृतिके रूपमें छोड़ा जाता है ताकि विश्वप्रकृति पुरुषोत्तमके अंतश्चक्षुके तत्त्वावधानमें उससे वह चीज तैयार करे जो वह कर सकती है। इस सतत स्वभावमेंसे अर्थात् प्रत्येक भूतभावकी मूल प्रकृति और उसके मूल आत्मतत्त्वमेंसे नानात्वका निर्माण कर यह विश्वप्रकृति उसके द्वारा उसे अभिव्यक्त करनेका प्रयास करती है. अपने ये सब परिवर्तन वह नाम और रूप, काल और दिक् तथा दिक्-कालके अंदर एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाके उत्पन्न

होनेका जो क्रम है जिसे हम लोग 'निमित्त' कहते हैं उस निमित्त-के रूपमें खोलकर प्रकट किया करती है।

एक स्थितिसे दूसरी स्थिति उत्पन्न करनेका यह जो उत्पत्ति-क्रम और निरंतर परिवर्तन है यही कर्म है, प्रकृतिकर्म, उस प्रकृति-की शक्ति है जो कर्मकर्त्री और सब क्रियाकर्मोंकी ईश्वरी है। प्रथमत. यह स्वभावका अपने सृष्टिकर्मके रूपमें निकल पड़ना है, इसीको विसर्ग कहते हैं। यह सृष्टिकर्म भूतोंको उत्पन्न करनेवाला है—'भूतकरः' है और फिर ये भूत जो कुछ आंतर रूपसे अथवा अन्य प्रकारसे होते हैं उसका भी कारण है—'भावकरः' है। यह सब मिलकर कालके अंदर पदार्थोंका सतत जनन या 'उद्भव' है जिसका मूलतत्त्व कर्मकी सृष्टिशक्ति है। यह सारा क्षरभाव अर्थात् 'अधिभूत' प्रकृतिकी शक्तियोंके संघातसे निकल पड़ता है, यह अधिभूत ही जगत् है और जीवकी चेतनाका विषय है। इस सबमें जीव ही प्रकृतिस्थ भोक्ता और साक्षिभूत देवता है; बुद्धि, मन और इंद्रियोंकी जो दिव्य शक्तियां हैं, जीवकी चेतन सत्ताकी जो शक्तियां हैं जिनके द्वारा यह प्रकृतिकी क्रियाको प्रतिबिंबित करता है, इसके 'अधिदैव' अर्थात् अधिष्ठातृदेवता हैं। यह प्रकृतिस्थ जीव ही इस तरह क्षर पुरुष है, भगवान्का नित्य कर्म-स्वरूप; यही जीव प्रकृतिसे लौटकर जब ब्रह्ममें आ जाता है तब अक्षर पुरुष होता है, भगवान्का नित्य नैष्कर्म्यस्वरूप। पर क्षर पुरुषके रूप और शरीरमें निवास करते हैं परम पुरुष भगवान् ही। अक्षर भावकी अचल शांति और क्षरभावके कर्मका आनंद दोनों ही भाव एक साथ अपने अंदर रखते हुए भगवान् पुरुषोत्तम मनुष्यके अंदर निवास करते हैं। वे हमसे दूर किसी परतर,

परात्पर पदपर ही केवल प्रतिष्ठित नहीं हैं, बल्कि यहां प्रत्येक प्राणीके शरीरमें, मनुष्यके हृदयमें और प्रकृतिमें भी मौजूद हैं। वहां वे प्रकृतिके कर्मोंको यज्ञरूपसे ग्रहण करते और मानव जीवके सचेत होकर आत्मार्पण करनेकी प्रतीक्षा करते हैं; परंतु हर हालतमें, मनुष्यकी अज्ञानावस्था और अहंकारितामें भी वे ही उसके स्वभावके अधीश्वर और उनके सब कर्मोंके प्रभु होते हैं, प्रकृति और कर्मका सारा विधान उन्हींकी अध्यक्षतामें होता है। उन्हींसे निकलकर जीव प्रकृतिकी इस क्षर-क्रीडामें आया है और अक्षर आत्मसत्तासे होता हुआ उन्हींके परम धामको प्राप्त होता है।

मनुष्य संसारमें जन्म लेकर प्रकृति और कर्मके चक्करमें लोक-परलोकके चक्कर काटता रहता है। प्रकृतिमें स्थित पुरुष—यही उसका सूत्र होता है। उसका अंतरात्मा जो कुछ सोचता, मनन करता और कर्म करता है, वही वह हो जाता है। जो कुछ वह रहा उसीसे उसका वर्तमान जन्म बना; और जो कुछ वह है, जो कुछ वह सोचा करता और इस जीवनमें अपनी मृत्युके क्षण-तक करता रहता है उसीसे, वह मृत्युके बाद परलोकोंमें और अपने भावी जीवनोंमें जो कुछ बननेवाला है, निश्चित होगा। जन्म यदि 'होना' है तो मृत्यु भी एक 'होना' ही है, न होना—नष्ट होना नहीं। शरीर छूट जाता है, पर जीव "त्यक्त्वा कलेवरम्" शरीरको छोड़कर अपने रास्तेपर आगे बढ़ता है। इस लोकसे प्रयाण करनेके संधिक्षणमें वह जो कुछ हो उसीपर बहुत कुछ निर्भर करता है। कारण मृत्युके समय जिस किसी भूतभावके रूपपर उसका स्वविषयक बोध स्थिर होता और मृत्युके पूर्व जिससे उसकी मन-बुद्धि सदा तन्मय रहती आयी है उसी रूपको वह प्राप्त

होता है; कारण प्रकृति कर्मके द्वारा जीवके सब विचारों और वृत्तियोंको ही कार्यान्वित किया करती है और यही असलमें प्रकृति-का सारा काम है। इसलिये मानव आधारमें स्थित जीव यदि पुरुषोत्तमपद लाभ करना चाहता है तो उसके लिये दो बाते ऐसी है जिनका पूरा होना जरूरी है। एक यह कि इस पार्थिव लोक-मे रहते हुए उसका संपूर्ण आन्तरिक जीवन उसी आदर्शके अनुकूल गढ़ा जाना चाहिये; और दूसरी यह कि प्रयाण-कालमे उसकी अभीप्सा और सकल्प वैसा ही बना रहना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, "जो कोई अतकालमे इस शरीरको छोड़कर मेरा स्मरण करता हुआ प्रयाण करता है वह मेरे भावको प्राप्त होता है।" अर्थात् पुरुषोत्तमभावको, "मद्भाव"को प्राप्त होता है। भगवान्का जो मूल स्वरूप है उसके साथ वह एक होता है और यही जीवका "परो भावः" है, कर्मके अपने असली रूपमे आकर अपने मूलकी ओर लौट जानेका परम फल है। जीव जब विश्व-प्रकृति (अपरा प्रकृति) की क्रीडाके पीछे-पीछे चलता है तब यह प्रकृति उसके परा प्रकृतिस्वरूप असली स्वभावको ढाक देती है, इस तरह जीवका जो चित्स्वरूप है वह नानाविध भूतभावको धारण करता, तत्तद्भावको (तं तं भावम्) प्राप्त होता है। इन सब भावोको पारकर जब वह अपने मूल स्वरूपमे लौट आता है और इस लौट आनेकी वृत्ति अर्थात् निवृत्तिसे होकर अपने सत्-स्वरूप और सदात्माको पा लेता है तो वह उस मूल आत्मपदको प्राप्त करता है जो निवृत्तिकी दृष्टिसे परम भावको, मद्भावको प्राप्त होना है। एक अर्थमे हम कह सकते है कि इस तरह वह ईश्वर हो जाता है, क्योंकि अपने प्राकृत स्वरूप और सत्ताके इस परम

यहीं उन परम पुरुष भगवान्का सर्वप्रथम वर्णन आता है जो अक्षर ब्रह्मसे भी उत्तम और महान् हैं और जिन्हें गीता आगे चलकर पुरुषोत्तम नाम प्रदान करती है। ये भगवान् भी अपनी कालातीत सनातन सत्तामें अक्षर हैं और यहां यह जो कुछ व्यक्त है उसके अतीत हैं और इस कालके अंदर उन "अव्यक्त अक्षर" की केवल कुछ झांकियां उनके विविध प्रतीकों और प्रच्छन्न वेशों-द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। फिर भी वे केवल "अलक्षणम् या अनिर्देश्यम्" नहीं हैं; या यह कहिये कि वे अनिर्देश्य केवल इस-लिये हैं कि मनुष्यकी बुद्धि जिसे अत्यंत सूक्ष्म अणु-परमाणु जानती है उससे भी वे अधिक सूक्ष्म हैं और इसलिये भी कि उनका जो रूप है वह हमारे चिंतनके परे है, इसलिये गीता उन्हें "अणोरणीयांसम्", "अचिन्त्यरूपम्" कहती है। ये परम पुरुष परमात्मा "कवि" अर्थात् द्रष्टा हैं, 'पुराण' हैं—किसी भी कालसे पुरातन हैं और अपनी सनातन आत्मदृष्टि और ज्ञानमें ही स्थित रहते हुए सब भूतोंके 'अनुशासिता' तथा अपनी सत्तामें 'सबको यथास्थान रखनेवाले "धाता" हैं (**कविं पुराणम् अनुशासितारं सर्वस्य धातारम्**)। ये परम पुरुष वही अक्षर ब्रह्म हैं जिसकी बात वेदविद् कहा करते हैं, ये ही 'वह' है जिसमें तपस्वी लोग वीतराग होकर प्रवेश करते और जिसके लिये ब्रह्मचर्यपालन करते हैं।'[1] वही सनातन सत्ता परम (सर्वोच्च) पद है; इसलिये वही जीवकी कालावच्छिन्न गतिका परम लक्ष्य है, किंतु यह स्वयं गति-रूप नहीं, यह एक आदि, सनातन, परम अवस्था या स्थान है, **परमं स्थानम् आद्यम्**।

---

[1] ये शब्द उपनिषदोंसे ज्योंके त्यों लिये गये हैं।

गीता योगीकी उस अंतिम मनोऽवस्थाका वर्णन करती है जिसमें वह मृत्युके द्वारा जीवनसे निकलकर उस परम भागवत सत्ताको प्राप्त होता है। उसका मन अचल होता है, वह योग-बलसे बलवान् और भक्तिसे भगवान्के साथ युक्त होता है—यहां भक्तिके द्वारा भगवान्से युक्त होनेकी बातको ज्ञानके द्वारा निर्गुण निराकारके साथ एकत्वकी बातसे पीछे नहीं छोड़ दिया गया है बल्कि यह भक्तियोग अंततक परम योगशक्तिका एक अंग बना ही रहता है—उसका प्राण सर्वथा ऊपर चढ़ा हुआ भ्रूमध्यमें आत्म-दर्शनके आसनपर सम्यक् रूपसे स्थित रहता है। इंद्रियोंके सब द्वार बंद रहते हैं, मन हृदयमें निरुद्ध हो रहता है, प्राण अपनी विविध गतियोंसे हटकर मस्तकमें आ जाता है, बुद्धि प्रणवके उच्चारणमें तथा उसकी सारी भावना परम पुरुष परमेश्वरके चिंतनमें एकाग्र होती है—**माम् अनुस्मरन्**। यही प्रयाणकी परं-परागत योगपद्धति है, सनातन ब्रह्म परम पुरुष परमेश्वरके प्रति योगीकी संपूर्ण सत्ताका यह सर्वात्मसमर्पण है। फिर भी यह केवल एक पद्धति है, मुख्य बात जीवनमें, कर्म और युद्धतकमें—**मामनुस्मर युद्धय च**—भगवान्का निरंतर अचल मनसे स्मरण करना और संपूर्ण जीवनको "नित्ययोग" बना देना है। जो कोई ऐसा करता है, भगवान् कहते हैं कि, वह मुझे अनायास पा लेता है, वही महात्मा है, वही परम सिद्धि लाभ करता है।

इस प्रकार ऐहिक जीवनसे प्रयाण करके जीव जिस स्थितिमें पहुंचता है वह विश्वातीत स्थिति है। इस सृष्ट लोकपरंपराके अंदर जो उत्तमोत्तम स्वर्गलोक है उन सबको पाकर भी जीव पुनर्जन्मका भागी होता है; पर जो जीव पुरुषोत्तमको प्राप्त होता

है वह पुनर्जन्म लेनेके लिये बाध्य नहीं होता। अतः अनिर्देश्य ब्रह्मको प्राप्त करनेकी ज्ञानाभीप्सासे जो कुछ फल प्राप्त हो सकता है वह इन स्वतःसिद्ध परम पुरुष परमेश्वरको, जो सब कर्मोंके अधीश्वर तथा सब मनुष्यों और प्राणियोंके सुहृद् हैं, ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारा प्राप्त होनेकी अभीप्साके इस दूसरे और व्यापक मार्गसे भी प्राप्त होता है। उन भगवान्को इस प्रकार जानना और इस प्रकार उनका अनुसंधान करना जन्मबंधन या कर्मबंधनका कारण नहीं होता; जीव इस मर्त्य जीवनकी क्षण-विध्वंसिनी और क्लेशदायिनी स्थितिसे सदाके लिये मुक्त होनेकी अपनी इच्छाको पूर्ण कर सकता है। और गीता इस जन्मचक्र तथा इससे छूटनेकी बातको और भी सुनिश्चित रूपसे सामने रखने-के लिये यहां विश्वकी सृष्टि और लयके संबंधमें जो प्राचीन मान्यता है उसे स्वीकार कर लेती है। सृष्टि और लयके संबंध-में यह सिद्धांत विश्वप्रपंचविषयक भारतीय तत्त्वज्ञानका एक सुनिश्चित भाग है। इसके अनुसार यह मानी हुई बात है कि इस भवचक्रमें विश्वकी सृष्टि और फिर लय, विश्वके व्यक्त होने और फिर अव्यक्त हो जानेके काल बारी-बारीसे आया करते हैं विश्वके व्यक्त होकर रहनेका काल सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका एक दिन और फिर उसके अव्यक्त होकर रहनेका काल एक रात कहाता है, ये दिन और रात बराबर होते हैं। सहस्र युगका यह एक दिन ब्रह्माका कर्मकाल है और विश्रांतिमय सहस्र युगकी ही वह एक रात वह समय है जब ब्रह्मा सोते हैं। दिनके निकलनेपर सब भूत अव्यक्तसे व्यक्त होते और रात होनेपर फिर अव्यक्तमें मिल जाते हैं। इस प्रकार ये सब भूत सृष्टि और

व्यक्तके नाशके साथ अवश होकर घूमा करते हैं; बार-बार उत्पन्न होते (भूत्वा भूत्वा) और बार बार अव्यक्तमें जा मिलते है। पर यह अव्यक्त भाव भगवान्‌का आदि दिव्य भाव नही है; वह एक दूसरी ही स्थिति है, "भावोऽन्यः" है, इस विश्वगत अव्यक्तके परे एक विश्वातीत अव्यक्त है जो सदा ही अपने-आपमें स्थित है, व्यक्त होनेवाले इस विश्वपदके वह विपरीत नही है बल्कि इसके बहुत ऊपर है, और इससे भिन्न है, अव्यय है, सनातन है जो इन भूतोंके नाश होनेके साथ नष्ट नही होता। "उसे अव्यक्त अक्षर कहते हैं, उसीको परम पुरुष और परमा गति कहते है, उसे जो लोग प्राप्त होते हैं वे लौटकर नही आते, वही मेरा 'परमं धाम' है।" उसे जो कोई प्राप्त करता है वह इस व्यक्त और अव्यक्त भवचक्रसे निकल आता है।

हम विश्वके इस प्रभव और प्रलयकी धारणाको चाहे ग्रहण करें या अपने मनसे हटा दे—कारण,"अहोरात्रविदः"—दिन और रातके जाननेवालोंका ज्ञान हमारी दृष्टिमे जब जो कुछ महत्त्व रखता हो उसीपर यह निर्भर करता है—पर मुख्य बात तो यहां वह चीज है जिसकी ओर गीता इस विषयको फेर ले जाती है। किसीका ऐसा ख्याल अनायास ही हो सकता है कि यह सनातन अव्यक्त आत्मवस्तु, जिसका इस व्यक्ताव्यक्त जगत्‌के साथ कुछ भी संबंध नही प्रतीत होता, वही अलक्षित अनिर्वचनीय निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता ही तो हो सकती है, और उसे प्राप्त करनेका रास्ता भी तो यही हो सकता है कि हम भूत-रूपसे जो कुछ हुए हैं उस भूतभावसे हम सर्वथा मुक्त हो ले, यह नही कि अपनी बुद्धिकी ज्ञानवृत्ति, हृदयकी भक्ति, मनका योगसंकल्प और प्राणकी

प्राणशक्ति इन सबको एक साथ एकाग्र कर अपनी संपूर्ण अंतश्चेतनाको उनकी ओर ले जायं। विशेषतः भक्ति तो उन निरपेक्ष ब्रह्मके संबंधमें अप्रयोज्य ही प्रतीत होती है, क्योंकि वह सर्वसंबंधातीत है, अव्यवहार्य है। "परंतु" गीताका यह आग्रहपूर्वक कहना है कि यद्यपि यह स्थिति विश्वातीत और यह सत्ता सदा अव्यक्त है, तथापि "उन परम पुरुषको जिनमें सब भूत रहते हैं और जिनके द्वारा यह सारा जगत् विस्तृत हुआ है, अनन्य भक्तिके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।" अर्थात् वह परम पुरुष सर्वथा संबंधरहित, निरपेक्ष, मायिक प्रपंचोंसे अलग नहीं है बल्कि सर्व जगतोंके कवि, अनुशासिता और धाता हैं और उन्हींको 'एक' और 'सर्व'—वासुदेवः सर्वमिति—जानकर और उन्हींकी भक्ति करके हमें अपने संपूर्ण चित्तसे सब पदार्थों, सब शक्तियों, सब कर्मोंमें उनके साथ योगके द्वारा अपने जीवनकी परम चरितार्थता, पूर्ण सिद्धि, परमा मुक्ति प्राप्त करनेमें यत्नवान् होना चाहिये।

यहां अब और एक विलक्षण बात आती है जिसे गीताने प्राचीन वेदांतके रहस्यवादियोंसे ग्रहण किया है। यहां उन दो विभिन्न कालोंका निर्देश किया गया है जिनमेंसे कोई एक काल योगी अपना शरीर छोड़नेके लिये चुन ले—यदि वह पुनर्जन्म चाहता हो तो उसके लिये एक काल है और यदि वह पुनर्जन्मसे बचना चाहता हो तो उसके लिये दूसरा काल है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण—यह एक काल है और धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन—यह उसके विरुद्ध दूसरा काल है। पहले मार्गसे ब्रह्मके जाननेवाले ब्रह्मको प्राप्त होते हैं; पर दूसरे मार्गसे योगी लोग "चान्द्रमसं ज्योतिः" को प्राप्त होकर पीछे फिरसे मनुष्य-

लोकमें जन्म लेते हैं। ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग हैं, उपनिषदोंमें इन्हें देवयान (देवताओंका मार्ग) और पितृयान (पितरोंका मार्ग) कहा गया है; जो योगी इन मार्गोंको जानता है वह भ्रममें नहीं पड़ता। शुक्ल-कृष्ण गतिके संबंधमें यह जो कुछ धारणा[1] है, इसके पीछे जो कुछ मानस-भौतिक सत्य हो अथवा यह जिस किसी सत्यको लक्षित करानेवाला संकेतमात्र हो—इसमें संदेह नहीं कि यह धारणा उन रहस्यविदोंके युगसे चली आयी है जो प्रत्येक भौतिक पदार्थको किसी-न-किसी मनोमय वस्तुके प्रतीकके ही रूपमें देखा करते थे और जो हर जगह बाह्य और आभ्यंतर, प्रकाश और ज्ञान, अग्नि-तत्त्व और चिच्छक्तिके बीच परस्पर व्यवहार तथा एक प्रकारके अभेदकी ही खोज किया करते थे—यह जो कुछ हो—हमें तो उसी चीजको देखना है जिसकी ओर गीता इसे फेर ले जाती और इन श्लोकोंका उपसंहार करती है। वह चीज तो यही है कि, "अतएव सब समय योगयुक्त रहो"—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव।"

---

[1]योगानुभूतिसे यह मालूम होता है कि इस धारणाके पीछे वास्तवमें एक मनोभौतिक सत्य है, अवश्य ही यह हर जगह हर हालतमें अनिवार्य हो, यह बात नहीं; प्रकाश और अंधकारकी शक्तियोंके बीचमें जो आंतरिक युद्ध होता है उसमें प्रकाशकी शक्तियोंका दिन या वर्षके प्रकाशमय समयोंमें विशेष प्रभाव होता है और अंधकारकी शक्तियोंका अंधकारमय समयोंमें, और यह हिसाब तबतक ऐसा ही चलता रह सकता है जबतक कि अंतिम विजय न प्राप्त हो जाय।

कारण वही असली बात है, संपूर्ण सत्तासे भगवान्के साथ युक्त होना, इतनी पूर्णताके साथ और इस तरह समस्त भावोंसे युक्त हो जाना कि यह योग स्वाभाविक और अनवच्छिन्न हो जाय और संपूर्ण जीवन, केवल विचार और ध्यान नहीं बल्कि कर्म, श्रम, युद्ध सब कुछ भगवान्का ही स्मरण बन जाय। "मामनुस्मर युद्ध्य च (मेरा स्मरण करते चलो और युद्ध करो)", इसका अर्थ ही यह है कि इस सांसारिक संघर्षमे जिसमे ही सामान्यतः हम लोगोंके मन डूबे रहते है, एक क्षणके लिये भी भगवान्का स्मरण न छूटे; और यह एक ऐसी बात है जो बहुत ही कठिन, प्रायः असंभव ही प्रतीत होती है। यह सर्वथा संभव तभी होती है जब इसके साथ अन्य शर्तें भी पूरी हों। यदि हम अपनी चेतनामें सबके साथ एक आत्मा बन चुके है—वह एक आत्मा जो सदा ही हमारी बुद्धिमें स्वयं भगवान् हैं, और हमारे नेत्र तथा अन्य इंद्रियां इन्ही भगवान्को सर्वत्र इस प्रकार देखती और अनुभव करती है कि किसी भी समय किसी भी पदार्थको हम वैसा नही अनुभव करते या समझते जैसा कि असंस्कृत बुद्धि और इंद्रियां अनुभव करती है, बल्कि उसे उस रूपमें छिपे हुए तथा साथ-ही-साथ उस रूपमे प्रकट होनेवाले भगवान् ही जानते है, और यदि हमारी इच्छा भगवदिच्छाके साथ चेतनामें एक हो चुकी और हमें अपनी इच्छा, अपनी मन-बुद्धि और शरीरका प्रत्येक कर्म उसी भगवदिच्छासे निःसृत, उसीका एक प्रवाह, उसीसे भरा हुआ या उसके साथ एकीभूत प्रतीत होता है तो गीताका जो कुछ कहना है वह पूर्ण रूपसे किया जा सकता है। अब भगवत्स्मरण मनकी रुक-रुककर होनेवाली कोई विशेष क्रिया नही बल्कि अपने

जीवनकी सहज अवस्था और अपनी चेतनाका सारतत्त्व बनकर होता रहेगा। अब जीव पुरुषोत्तमके साथ अपना यथार्थ, स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक संबंध प्राप्त कर चुका है और हमारा संपूर्ण जीवन एक योग बन गया है, वह योग जो सिद्ध होनेपर भी अनंत कालतक और समृद्धतर रूपसे साधित होता रहेगा।

९

राजगुह्य

यहांतक जो सत्य क्रमसे अधिकाधिक स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित हुआ और जिसके प्रतिपादनक्रमके प्रत्येक सोपानके साथ संपूर्ण ज्ञानका एक-एक नवीन पहलू बराबर सामने आता गया और उसकी बुनियादपर आध्यात्मिक अवस्था और कर्मकी कोई-न-कोई विशेष बात प्रस्थापित हुई, उसी सत्यको अब एक ऐसे विषयकी ओर फेरना है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसलिये भगवान् अब आगे जो कुछ कहनेवाले हैं उसके निर्णायक स्वरूपकी ओर, पहले ही, ध्यान दिला देते हैं जिसमें अर्जुनका मन सावधान हो और वह ध्यानपूर्वक सुने। कारण भगवान् अब अर्जुनके अंतःकरणको 'समग्र' भगवान्‌के ज्ञान और दर्शनके सामने लाकर उसे ग्यारहवें अध्यायके उस विराट् दर्शनके लिये प्रस्तुत करना चाहते हैं जिस दर्शनसे ही कुरुक्षेत्रका यह योद्धा अपनी सत्ता, कर्म और उद्दिष्ट कार्यके उन प्रवर्त्तक और धारकको, मनुष्य और जगत्‌में निवास करनेवाले उन भगवान्‌को जान ले जो मनुष्य और जगत्‌में निवास करते हुए भी इनकी किसी चीजसे सीमित या बद्ध नहीं हैं, कारण

सब कुछ उन्हीसे निकलता है, उन्हींकी अनंत सत्ताके अंदर यह सारा पसारा है, उन्हीके संकल्पसे यह जारी है और उन्हीके संकल्पपर टिका हुआ है, यह जो कुछ है इसकी सार्थकता उन्हीके दिव्य आत्मज्ञानमें है, वे ही सदा इसके मूल, इसके सारतत्त्व और इसके पर्यवसान है। अर्जुनको यह जानना है कि वह उन्ही एक भगवान्‌में रहता और उनकी जो शक्ति उसके अंदर है उसीसे सब कुछ करता, उसका सारा क्रियाकलाप भागवत कर्मका एक निमित्त-मात्र है, उसकी अहमात्मक चेतना केवल एक आवरण है और उसके अज्ञानके निकट वह उसके अंत.स्थित आत्माका, परम पुरुष परमेश्वरके अमर स्फुलिंग और सनातन अंशका मिथ्या प्रतिभास-मात्र है।

इस दर्शनका उद्देश्य यह है कि जो कुछ भी संशय उसके मन-में अबतक बच रहा हो वह दूर हो जाय; वह उस कर्मके लिये सशक्त बन जाय जिस कर्मसे वह हट गया है पर जिसे करनेका उसे ऐसा आदेश प्राप्त हुआ है जिसे वह बदल नही सकता न उससे अब हट ही सकता है—कारण हटना उसके उस अंत.स्थित भगवत्संकल्प और भगवदादेशको ही अमान्य और अस्वीकार कर देना होगा जो उसकी वैयक्तिक चेतनामें तो प्रकट हो ही चुका है पर अब शीघ्र ही महत्तर और वैश्व आदेशका रूप ग्रहण करने-वाला है। कारण अब यह विश्वरूप उसे भगवान्‌का वह शरीर भासता है जिसके अंदर कालात्मा निवास करते है और अपनी महान् और भयानक वाणीसे उसे संग्राम करनेका भीषण कर्म सौंपते है। उससे यह कहा जाता है कि इसके द्वारा वह अपने आत्माको मुक्त कर ले और विश्वके इस रहस्याभिनयमें अपना

कर्त्तव्य कर्म पूरा करे—मुक्ति और कर्म दोनों एक ही व्यापार बन जाय। जैसे-जैसे आत्मज्ञान तथा ईश्वर और प्रकृतिके ज्ञान-का प्रकाश उसके सामने लाया जा रहा है वैसे-वैसे उसकी बौद्धिक शंकाएं दूर होती जा रही हैं। पर बौद्धिक समाधानका होना ही पर्याप्त नहीं है; उसे अंतर्दृष्टिसे देखना होगा और अपनी बाह्य अंध मानव दृष्टिको प्रकाशित करना होगा, जिसमें वह अपने संपूर्ण आधारकी अनुकूलताके साथ, अपने सर्वांगकी पूर्ण श्रद्धाके साथ, तथा उसके आत्माके भी जो आत्मा और उसकी सत्ताके जो स्वामी है, जो जगत्के भी आत्मा और जगत्के सब भूतोंके भी स्वामी हैं उनकी पूर्ण भक्तिके साथ वह कर्म कर सके।

अबतक जो कुछ कहा गया उससे ज्ञानकी नींव दी गयी या यह कहिये कि उसकी प्रथमावश्यक सामग्री उपस्थित की गयी, पर अब इमारतका पूरा नक्शा उसकी खुली हुई दृष्टिके सामने रखा जानेको है। इसके आगे जो विवरण आयगा उसका अपना बड़ा महत्त्व होगा क्योंकि इससे नक्शेके सब हिस्से अलग-अलग दिखाये जायंगे और यह बतलाया जायगा कि कौनसी चीज क्या है; पर सारतः जो भगवान् उससे बात कर रहे हैं उन्हींका समग्र ज्ञान उसके नेत्रोंके सामने खोल दिया जायगा ताकि उसका साक्षात्कार करनेके सिवा और कोई चारा ही न रहे। अबतक जो प्रतिपादन हुआ उससे उसे यह पता चला कि वह अपने उस अज्ञान और अहंभावप्रयुक्त कर्मके द्वारा अनिवार्य रूपसे बधा नहीं है जिसे करते हुए वह तबतक संतुष्ट था जबतक कि उससे प्राप्त होनेवाला आंशिक समाधान उसकी उस बुद्धिको जो जगत्कर्मके अंगस्वरूप परस्परविरोधी दृश्योंके संघर्षसे घबराई हुई थी, तथा उस हृदयको

जो कर्मोंकी विचित्र गतिसे विपन्न हुआ यह अनुभव कर रहा था कि इनसे बचनेका उपाय तो केवल जीवन और कर्मका सन्यास ही है, संतुष्ट करनेमे अपर्याप्त न सिद्ध हुआ। उसे यह समझा दिया गया है कि कर्म और जीवनपद्धतिके दो परस्परविरोधी मार्ग हैं, एक अहंभावयुक्त अज्ञानदशाका है और दूसरा दिव्य पुरुषके निर्मल आत्मज्ञानका। वह चाहे तो वासना-कामना, काम-क्रोधके वशमे होकर, निम्नगा प्रकृतिके गुणोंके द्वारा चालित 'अह' रूपसे, पाप-पुण्य और सुख-दुःखादि द्वंद्वोंके अधीन होकर, हार-जीत और सुफल-कुफल-रूप कर्मफलोका ही चिंतन करते हुए, संसारचक्रमें बंधे रहकर, मनुष्यके मन, चित्त, अहंकार और वुद्धिको अपने सतत परिवर्तनशील और परस्परविरोधी रूपों और दृश्योसे चकरानेवाले कर्माकर्म और विकर्मके बडे भारी जंजालमे पडकर अपने कर्म कर सकता है। परंतु अज्ञानके इन कर्मोसे वह स र्था बंधा नही है; वह चाहे तो ज्ञानयुक्त क र्म कर सकता है। चाहे तो मनीषी, ज्ञानी और योगी होकर तथा पहले मोक्षका साधक बनकर और पीछे मुक्त होकर कर्म कर सकता है। इस महती सभावनाको समझ लेना और अपनी मन-बुद्धिको ज्ञान और आत्मदर्शनमें स्थित करना जिससे कि वह संभावना कार्यतः सिद्ध हो—यही—दुःख और घबराहटसे तथा मानवजीवनके गोरखधंधेसे निकलनेका रास्ता है।

हमारे अंदर एक आत्मा है जो शांत, कर्मसे श्रेष्ठ और सम है, इस बाहरी गोरखधधेसे बंधा नही बल्कि इसको अध्यक्षरूपसे धारण करनेवाला, इसका मूल और इसका अंतःस्थित साक्षी है, पर इससे अलिप्त है। अनत है, सब कुछ उसके अंदर है, सब-

का एक अंतरात्मा है, प्रकृतिके सारे कर्मको वह तटस्थ होकर देखता है और देखता है प्रकृतिके ही कर्मके रूपमें, अपने कर्मके तौरपर नहीं। वह देखता है कि उसका अहंकार, मन, बुद्धि, सब प्रकृतिके यन्त्र हैं और इन सबके कार्य प्रकृतिकी त्रिगुण-वृत्तियोंके वझे-उलझे हुए व्यापारसे ही निर्धारित हुआ करते हैं। अज अविनाशी आत्मा इन सबसे मुक्त रहता है। वह इनसे मुक्त है, क्योंकि वह जानता है, जानता है कि प्रकृति और अहंकार तथा प्राणिमात्रका वैयक्तिक अस्तित्व ही संपूर्ण सत्ता नहीं है। कारण सत्ता केवल भूतभावकी निरंतर क्षरणशीलताका ही कोई शानदार या वेमतलव, कोई आश्चर्यजनक या शोकमय दृश्य ही नहीं है। और कोई वस्तु है जो सनातन है, अक्षर है, अविनाशी है, वह कालातीत सत्ता है जो प्रकृतिके विकारोंसे विकृत नहीं होती। वह है इन सबका तटस्थ साक्षी जो न विकार पैदा करता न विकृत होता है, जो न कर्म करता न कर्मका विषय बनता है, जो न पुण्यात्मा है न पापात्मा, प्रत्युत जो नित्य शुद्ध, पूर्ण, महान् और अक्षत है। अहंभावापन्न जीवको जो कुछ दुःख देता या मोहित करता है उससे इसे न कोई दुःख होता है न हर्ष ही, यह किसीका मित्र नहीं, किसीका शत्रु नहीं, प्रत्युत सबका एक सम आत्मा है। मनुष्यको अभी इस आत्माका बोध नहीं है क्योंकि वह अपने बहिर्मुख मनमें लिपटा है और अंतर्मुख होकर रहना नहीं सीखना चाहता या नहीं सीख पाया है; वह अपने-आपको अपने कर्मसे अलिप्त नहीं रखता, उससे हटकर उसे प्रकृतिका कर्म जानकर उसका साक्षी नहीं बनता। अहंकार ही बाधक है, भ्रांतिके चक्रका यही अवैध बंध-विधान है; इस अहंकारका जीवके आत्मामें

लय हो जाना ही मुक्तिका आद्य साधन है। बुद्धि और अहंकार-मात्र ही बने रहना छोड़कर आत्मा हो जाना ही मुक्तिके इस संदेशका आद्य वचन है।

इसलिये अर्जुनको यह आदेश हुआ कि वह पहले अपने कर्मों-की सारी फलेच्छा त्याग दे और जो कुछ कर्त्तव्य कर्म है उसे केवल निष्काम और निरपेक्ष भावसे करे—फल छोड़ दे उनके लिये जो इस विश्वके सारे कर्मकलापके स्वामी हो। वह स्वय तो स्वामी है ही नही, उसके वैयक्तिक अहंकारकी तृप्तिके लिये तो प्रकृतिका यह विविध संचालन हो ही नहीं रहा है, न उसकी इच्छाओं और पसंदोको पूरा करनेके लिये ही यह विश्वजीवन चल रहा है, न उसके बौद्धिक मत, निर्णय और मानोका समर्थन करनेके लिये ही यह विश्वमानस कर्म कर रहा है और न उसकी जरासी बुद्धिके इजलासमे विश्वमानसको अपने विश्वब्रह्माडव्यापी उद्देश्यों या अपनी जागतिक कार्यपद्धतियो और हेतुओको ही पेश करना है। ऐसे दावे तो उन अज्ञानी जीवोंके ही हो सकते हैं जो अपने व्यष्टिभावमे ही रहते है और उसीके अकिंचित् और अत्यंत आकुंचित मानसे ही सब बाते देखा करते हैं। सबसे पहले उसे जगत्पर उसकी जो अहंप्रयुक्त माग है उससे हटना होगा और करोड़ों प्राणियोंमेंसे एक मैं भी हूं इसी नाते कर्म करके उस फलके लिये अपने प्रयत्न और श्रमका हिस्सा अदा करना होगा जो फल उसके द्वारा नहीं बल्कि विश्वव्यापी कर्म और हेतुसे निर्धारित हुआ है। और फिर इसके बाद उसे अपने कर्त्तापनका भी ख्याल छोड देना होगा और व्यष्टिभावसे सर्वथा मुक्त होकर यह देखना होगा कि विश्वबुद्धि, विश्वसंकल्प, विश्वमानस, विश्वजीवन ही उसके

अंदर और सबके अंदर कर्म कर रहा है। प्रकृति ही वैश्व कर्त्री है, उसके कर्म प्रकृतिके कर्म है ठीक वैसे ही जैसे कि उसके अंदर प्रकृतिके कर्मफल उस महान् फलके अंशमात्र है जिसकी ओर वह शक्ति, जो उससे (व्यष्टिपुरुषसे) महान् है, विश्वकर्मको ले जाती है। यदि वह इन दो बातोंको अध्यात्मत. साव ले तो उसके कर्मोका बंधन उससे बहुत दूर छूट जायगा, क्योंकि इस बंधनकी ग्रंथि तो उसकी अहंभावप्रयुक्त वासना और उस वासनासे कर्म करना है। काम-क्रोध, पाप और वैयक्तिक सुख-दु.ख तब उसकी अंतरात्मासे झड़ जायंगे और वह आत्मा शुद्ध, महान्, प्रशांत और सब प्राणियो और पदार्थोके लिये सम होकर अंदर रहेगा। कर्मकी कोई प्रतिक्रिया अंत.करणमें न होगी और उसका कोई दाग या निशान उसके आत्माकी विशुद्धता और शांतिपर न रह जायगा। उसे अंत:सुख, विश्रांति, स्वच्छंदता और मुक्त अलिप्त आत्मसत्ताका अखंड आनंद प्राप्त होगा। फिर उसके अंदर या बाहर कहीं वह पुराना क्षुद्र व्यष्टिभाव नहीं रह जायगा, कारण वह अपनेआपको सचेतन रूपसे सबके साथ एकात्मा अनुभव करेगा और उसकी बाह्य प्रकृति भी उसकी अनुभूतिमें विश्वगत बुद्धि, विश्वगत जीवन और विश्वगत इच्छाका एक अभिन्न अंश हो जायगी। उसकी पृथग्भूत अहंभावापन्न वैयक्तिक सत्ता निर्व्यक्तिक ब्रह्मसत्तामें मिलकर लीन हो जायगी; उसकी पृथग्भूत अहंभावापन्न प्रकृति विश्वप्रकृतिके अखिल कर्मके साथ युक्त हो जायगी।

परंतु इस प्रकारकी मुक्ति साथ-साथ रहनेवाली, पर अभीतक यहां जिनकी संगति साबित नहीं हुई ऐसी, दो अनुभूतियोंपर निर्भर करती है—विशद आत्मदर्शन और विशद प्रकृतिदर्शन। यह वह

वैज्ञानिक और बौद्धिक उपरामता नहीं है जो उस जड़वादी दार्शनिकके लिये भी सर्वथा संभव है जिसके सामने किसी न किसी प्रकारसे केवल प्रकृतिका स्वरूप भासित हो गया है पर जिसे अपने ही आत्मा और आत्मसत्ताकी कोई प्रतीति नहीं हुई न यह उस बाह्यशून्यवादी साधु (Idealistic sage) की ही बौद्धिक उपरामता है जो अपनी बुद्धिके प्रकाशपूर्ण उपयोगके द्वारा अपने अहंकारके उन रूपोंसे छुटकारा पा जाता है जो अधिक अवच्छेदक और उपाधि करनेवाले हैं। यह उससे महान्, उससे अधिक जीवनमय, अधिक पूर्ण आध्यात्मिक उपरति है जो उस परम वस्तुके दर्शनसे प्राप्त होती है जो प्रकृतिसे बृहत्तर और मन-बुद्धिसे महान् है। परंतु यह उपरति भी मुक्ति और आत्मसाक्षात्कारकी केवल एक प्रारंभिक गुह्यावस्था है, भागवत रहस्यका पूरा सूत्र नहीं। कारण, इतनेसे ही प्रकृतिका सारा रहस्य नहीं खुल जाता और सत्ताका जो कर्म करनेवाला प्रकृतिरूप अंश है वह आत्मस्वरूप और उपरत आत्मसत्तासे अलग रह जाता है। भागवत उपरति तो वह चीज होनी चाहिये जो प्रकृतिमें भागवत कर्मके किये जानेकी बुनियाद हो, जो अहंभावसे कर्म करनेकी पहलेकी अवस्थाकी स्थानापन्न हो जाय; भागवत शांति भी वह शांति होनी चाहिये जो भागवत कर्म और शक्तिप्रवाहका आश्रय बने। यह महत् सत्य गीताके वक्ता भागवान् श्रीगुरु बराबर ही अपने सामने रखे हुए थे और इसीलिये वे परमेश्वरके प्रीत्यर्थ यज्ञरूप कर्म करने और परमेश्वरको अपने सब कर्मोंका स्वामी माननेकी बातपर तथा अवतारतत्त्व और दिव्य जन्मके सिद्धांतपर इतना जोर दे रहे थे, पर अभीतक इसे जिस परा शांतिरूपा मुक्तिका होना सबसे पहले

आवश्यक है उसके एक गौण भागके तौरपर ही कहते आये हैं। केवल उन्ही सत्योंका यहांतक पूर्ण प्रतिपादन किया गया और उनका पूर्ण प्रभाव और आशय प्रकट किया गया जो ब्राह्मी शांति, उदासीनता, समता और एकता अर्थात् अक्षर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करने और उनकी अभिव्यक्ति होनेमे साधक हैं। अब दूसरा जो महान् और आवश्यक ज्ञेय और उसी सत्यका पूरक सत्य है उसपर अभीतक पूरा प्रकाश नही डाला गया है, समय-समयपर उसका सकेतमात्र किया गया है, पर पूर्ण प्रतिपादन नही। अब आगेके अध्यायोमे उसीको बड़ी शीघ्रताके साथ प्रकट किया जा रहा है।

भगवदवतार जगद्‌गुरु श्रीकृष्ण, जो इस जगत्कर्ममें मानव जीवके सारथी है, अपने रहस्यको, प्रकृतिके गूढतम रहस्यको खोलनेकी भूमिका ही यहांतक बराबर बांधते चले आये हैं। इस भूमिका-बंधनमे उन्होंने एक तार बराबर बजता रखा है जिसका स्वर उनके समग्र स्वरूपके महान् चरम समन्वयकी सूचना और पूर्वाभास बराबर देता रहा है। वह स्वर रहा है इसी भावकी झंकार कि एक परम पुरुष परमेश्वर हैं जो मनुष्य और प्रकृतिके अंदर निवास करते है पर प्रकृति और मनुष्यसे महान् है, आत्माके निर्व्यक्तिक भावकी साधनासे ही उनकी उपलब्धि होती है पर वह निर्व्यक्तिक भाव ही उनकी संपूर्ण सत्ता नहीं हैं। बार-बार बड़े आग्रहके साथ आनेवाली उस बातका आशय अब यहां आकर खुलता है। ये ही विश्वात्मा और मनुष्य और प्रकृतिमे निवास करनेवाले वह एकमेव परमेश्वर है जो रथपर आरूढ़ जगद्‌गुरुकी वाणीके द्वारा यह जनानेकी ही भूमिका बांध रहे थे कि मै ही सबका जागरित द्रष्टा और सब कर्मोका

कर्त्ता हूं। यही वे बतला रहे थे कि, "मैं जो तेरे अंदर हूं, जो यहां इस मानुषी तनुके अंदर हूं, जिसके लिये ही यह सब कुछ है और यह सारा कर्म और प्रयास हो रहा है, वही मैं एक साथ ही उस स्वयंभू आत्मा और इस अखिल विश्वकर्मका अंत:स्थित गूढ़तत्त्व हूं। यह "अहम्" (मैं) वह महान् अहम् है जिसका विशालतम मानव व्यक्तित्व केवल एक अंश और खंडमात्र आविर्भाव है, स्वयं प्रकृति उसकी एक कनिष्ठ कर्मप्रणाली है। जीवका स्वामी, अखिल विश्वकर्मका प्रभु मैं ही एकमात्र ज्योति, एकमात्र शक्ति और एकमात्र सत्ता हूं। तेरे अंदर निवास करनेवाला यह परमेश्वर जगद्गुरु है, ज्ञानकी उस निर्मल ज्योतिको प्रकट करनेवाला सूर्य है जिस ज्योतिके प्रकाशमें तू अपने अक्षर आत्मा और क्षर प्रकृतिके बीचका भेद स्वानुभवसे जान लेता है। पर इस प्रकाशके भी परे उसके मूलकी ओर देख; तब तू उस परम पुरुषको जान लेगा जिसे प्राप्त होकर अपने व्यष्टिभाव और प्रकृतिका सारा आध्यात्मिक रहस्य तेरे सामने खुल जायगा। तब सब भूतोंमें उसी एक आत्माको देख ले जिससे कि सबके अंदर तू मुझे देख सके; सब भूतोंको एक ही आत्मा एवं आत्मसत्ताके अंदर देख; क्योंकि सबको मेरे अंदर देखनेका यही एक रास्ता है; सबके अंदर एक ब्रह्मको जान जिसमें तू उस ईश्वरको देख सके जो परब्रह्म है। अपने-आपको—अपने आत्माको जान ले, अपना आत्मा बन जा जिसमें कि तू मेरे साथ युक्त हो सके और देख सके कि यह कालातीत आत्मा मेरी निर्मल ज्योति या पारदर्शक अवगुंठन है। मैं परमेश्वर ही आत्मा और ब्रह्मका आधारस्वरूप परम सत्य हूं।"

अर्जुनको यह देखना है कि वे ही एक परमेश्वर केवल आत्मा और ब्रह्मका ही नहीं बल्कि प्रकृति और उसके अपने व्यष्टिगत जीव-भावका मूलभूत परतर सत्य हैं, व्यष्टि-समष्टि दोनोंका एक साथ ही गूढ़ रहस्य है। वही भगवदीय संकल्पशक्ति प्रकृतिमें सर्वत्र व्यापक है और प्रकृतिके जो कर्म जीवके द्वारा होते हैं उनसे वह महान् है, मनुष्य और प्रकृतिके सब कर्म और उनके फल उसीके अधीन है। इसलिये अर्जुनको कर्म करना चाहिये यज्ञके लिये, कारण उसके कर्मोंका तथा सभी कर्मोंका वही आधारभूत सत्य है। प्रकृति कर्मकर्त्री है, अहंकार नहीं; पर प्रकृति उन पुरुषकी केवल एक शक्ति है जो उसके सब कर्मों, शक्तियों और विश्वयज्ञके सब कालोंके अधिपति हैं। इस प्रकार अर्जुनके सब कर्म उन परम पुरुषके हैं, इसलिये उसको चाहिये कि वह अपने सब कर्म अपने और जगत्‌के अंतःस्थित भगवान्‌को समर्पित करे जिनके द्वारा ही ये सब कर्म भागवत रहस्यमय प्रकृतिके अंदर हुआ करते हैं। जीवके दिव्य जन्मकी, अहंकार और शरीरकी मर्त्यतासे निकल सनातनी ब्राह्मी स्थितिमें आ जानेकी यह द्विविध अवस्था है—पहले अपने कालातीत अक्षर आत्मस्वरूपके ज्ञानकी प्राप्ति है और फिर उस ज्ञानके द्वारा कालातीत परमेश्वरसे योगयुक्त होना है, साथ ही उन परमेश्वरको जानना है जो इस विश्वकी पहेलीके पीछे अंतर्निहित है, जो सब भूतों और उनकी क्रियाओंमें स्थित हैं। केवल इसी रूपसे हम अपनी समस्त प्रकृति और सत्ता समर्पित कर उन एक परमेश्वरके साथ, जो दिक्कालके अंदर यह सब कुछ बने हैं, जीते-जागते योगसे युक्त होनेकी अभीप्सा कर सकते हैं। संपूर्ण मोक्ष प्रदान करनेवाले योगकी पद्धतिमें यही भक्तिका स्थान

आता है। यह उस वस्तुकी उपासना और उसकी ओर अपना हृदय लगाना है जो अक्षर ब्रह्म या क्षर प्रकृतिसे महान् है। संपूर्ण ज्ञान यहां पूजा-अर्चा बन जाता है और सारे कर्म भी पूजा-अर्चा ही बन जाते हैं। इस पूजामें प्रकृतिके कर्म और आत्माकी मुक्त स्थिति एक होकर उन परमात्मा परमेश्वरकी ओर उठनेकी एक ही गति बन जाते हैं। परा मुक्ति अर्थात् इस निम्नगा प्रकृतिसे निकलकर उस परब्रह्मभावको प्राप्त होना जीवका निर्वाण (जीव-ज्योतिका बुझ जाना) नही है—केवल उसके अहंकारका बुझ जाना है—बल्कि हमारे ज्ञान-कर्म-भक्तियुत संपूर्ण जीवभावका इस विश्वके अंदर बंधकर नही किंतु इस बंधनसे निकलकर अपनी विश्वातीत सत्तामें स्थित होना है, जीवकी यह परिपूर्णता है, नाश नहीं।

यह ज्ञान अर्जुनकी बुद्धिको अच्छी तरहसे जंचा देनेके लिये भगवान् यहां सर्वप्रथम दो अवशिष्ट शंकाओंका समाधान कर देते है—एक शंका है निर्व्यक्तिक ब्रह्म और मानव जीवके बीच जो असंगति है उसके संबंधमें और दूसरी पुरुष और प्रकृतिके बीचकी असंगतिके संबंधमें। ये दो असंगतिया जबतक बनी हैं तबतक प्रकृति और मनुष्यमें स्थित परमेश्वरकी सत्ता छिपी ही रह जाती और बुद्धि विसंगत और अविश्वसनीय प्रतीत होती है। प्रकृतिको त्रिगुणका अचेतन बंधनमात्र कहा गया है और जीवको उस बंधनमें बंधा हुआ एक अहभावापन्न प्राणी। परंतु प्रकृति और पुरुषकी यही सारी मीमासा हो तो वे दोनों तो दिव्य नहीं है न हो सकते हैं। उस हालतमें प्रकृति, जो अज्ञ और जड़ है, ईश्वरकी कोई शक्ति नहीं हो सकती; कारण ईश्वरीय शक्ति जो होगी वह अपनी क्रियामें स्वच्छंद होगी, उसका मूल आध्यात्मिक होगा

और उसकी महत्ता भी आध्यात्मिक ही होगी। जीव भी उसी प्रकार, जो प्रकृतिमें बंधा और अहंकारयुक्त और केवल मनोमय, प्राणमय और अन्नमय है, भगवान्‌का कोई अंश नहीं हो सकता न स्वयं कोई अप्राकृत पुरुष ही; कारण, ऐसा ईश्वर-अंशभूत जीवात्मा होना उसका तभी बन सकता है जब वह स्वयं भगवत्स्वभाव-वाला हो, मुक्त, आत्मस्वरूप, स्वतःप्रवृत्त और प्रवर्धमान, स्वतः-सिद्ध, मन-प्राण-शरीरसे ऊर्ध्वमें स्थित हो। इन असंगतियोंसे उत्पन्न होनेवाली इन दोनों कठिनाइयों और आवरणोंको सत्यकी एक प्रकाशमय किरणसे अब यहां हटा दिया गया है। जड़ प्रकृति केवल एक अपर सत्य है, अपरा प्रकृतिके कार्यकी एक पद्धतिमात्र है। इससे श्रेष्ठ एक और प्रकृति है और वह आध्यात्मिक है और वही हमारे वैयक्तिक आत्मस्वरूपका स्वभाव है, हमारा वास्त-विक व्यक्तित्व है। भगवान् एक साथ ही अव्यक्त ब्रह्म और व्यक्त होनेवाले पुरुष हैं। उनका अव्यक्त स्वरूप हमारी बौद्धिक अनुभूतिमें एक कालातीत सद्भाव, चिद्भाव और आनंदभाव है; उनका व्यक्त रूप सद्भावकी एक चिच्छक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका एक चिन्मय केंद्र और आत्माविर्भावके नानात्वके आनंदका एक प्रतीक है। हम अपनी सत्ताके स्थितिशील वास्त-विक स्वरूपमें वही एक अव्यक्त ब्रह्म हैं; हममेंसे हर कोई अपने वैयक्तिक आत्मभावसे उसी एक मूलशक्तिका नानात्व है। पर फिर भी जो भेद और तारतम्य सर्वत्र देख पड़ता है वह केवल आत्माके आविर्भावके लिये है; इस अव्यक्त रूपके पीछे जाकर कोई देखे तो यही रूप अनंत ब्रह्मस्वरूप, परम पुरुष, परमात्मा भी है। यही वह महान् अहम्—सोऽहम् (मैं वह हूं) है जिसमें-

से सारे व्यष्टि-जीवभाव और स्वभाव निकलते और एक निर्व्यष्टिक समष्टि-जगत्‌के रूपमें अपनेको नाना भावसे प्रकट करते हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यही उपनिषदें कहती हैं; कारण ब्रह्म एकमेव आत्मा है जो अपने-आपको क्रमसे चैतन्यके चार पर्वोंपर प्रतिष्ठित देखता है। सनातन पुरुष वासुदेव ही सब कुछ हैं, यही गीताका कथन है। वे ही ब्रह्म हैं और वे ही चिद्रूपसे अपनी परा आत्मप्रकृतिसे सबके आश्रय बनते और सबको उत्पन्न करते हैं, स्वयं ही चिद्रूपसे बुद्धि, मन, प्राण, इंद्रिय और इस सारे बाह्य स्थूल जगत्‌वाली प्रकृतिकी सब चीजे बनते हैं। सनातन पुरुषकी उस परा आत्मप्रकृतिमें, अपने सनातन नानात्वमें, चिच्छक्तिके विविध केंद्रोंसे अपने आत्मदर्शनमें वे ही जीव हैं। ईश्वर, प्रकृति और जीव एक सद्वस्तुके तीन नाम हैं, और ये तीनों एक ही सद्वस्तु हैं।

यह सद्वस्तु, यह सदात्मा किस प्रकार विश्वरूपमें आविर्भूत होता है? पहले, अक्षर कालातीत उस आत्मा या ब्रह्मके रूपसे जो सर्वत्र अवस्थित और सर्वाश्रयभूत है, जो अपनी सनातनी सत्तासे सत्तावान् है, भूतभाव नहीं। इसके उपरात, इसी सत्तापर आश्रित, कुछसे कुछ स्वयं बननेकी एक ऐसी मूलगत शक्ति या अध्यात्मतत्त्व है जिसे स्वभाव कहते हैं, जिसके द्वारा यह सदात्मा आत्मदृष्टिसे अपने अंदर देखकर यह सब जो उसकी अपनी सत्ताके अंदर छिपा या समाविष्ट रहता है उसे अपने संकल्पमें ले आता और प्रकट करता है, उसे उस सुप्तावस्थासे निकालकर उत्पन्न करता है। वह अध्यात्मतत्त्व या स्वभावशक्ति आत्माके अंदर इस प्रकार जो कुछ संकल्पित होता है उसे अखिल विश्व-कर्मके

रूपमें बाहर छोड़ती है। सारा विसर्ग यह कर्म है, स्वभावकी प्रवृत्ति है, कर्म नाम इसीका है। पर यहां आकर, यह क्षर प्रकृतिको प्राप्त होकर बुद्धि, मन, प्राण, इंद्रिय और स्थूल प्राकृत विषयरूपमें विकृत होता है और तब मूल निरपेक्ष प्रकाशसे विच्छिन्न होकर अज्ञानसे बच जाता है। वहां अपने मूल रूपमें इसकी सारी क्रियाएं प्रकृतिमें स्थित जीवात्माकी प्रकृतिमें गुप्त रूपसे स्थित परमात्माके लिये यज्ञस्वरूप होती हैं। इस तरह परमेश्वर सब प्राणियोंके अंदर उनके यज्ञके भोक्ता स्वामीके रूपसे निवास करते हैं, उन्हींकी सत्ता और शक्तिसे उसका नियमन और उन्हींके आत्मज्ञान और आत्मानंदसे उसका ग्रहण होता है। इसको जानना ही जगत्को वास्तविक रूपसे जानना, जगद्व्यापक जगदीश्वरके दर्शन करना और अज्ञानसे निकलनेका द्वार ढूंढ़ लेना है। कारण यह ज्ञान, अपने सब कर्म और अपनी सारी चेतना सर्वभूतोंमें स्थित भगवान्को समर्पित कर देनेसे, मनुष्यके लिये अमोघ होकर उसे अपनी आत्मसत्तामें फिरसे लौट आने और उस आत्मसत्ताके द्वारा इस क्षर प्रकृतिके ऊर्ध्वमें स्थित जो विश्वातीत ज्योतिर्मय सनातन सत्तत्त्व है उसे प्राप्त होनेमें समर्थ बना देता है।

यही आत्मसत्ताका रहस्य है और इसे अब गीता इसकी प्रचुर फलवत्ताके साथ हमारे आंतरिक जीवन और बाह्य कर्मके लिये प्रयुक्त करना चाहती है। अब जो बात गीता कहनेवाली है वह गुह्यतम रहस्य है।[1] यह समग्र भगवान् ("समग्रं माम्") का ज्ञान है जो अर्जुनको प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा उसके प्रभुने की है,

[1] गीता अ. ९, श्लोक १-३

वह मूल स्वरूपज्ञान अपने सब तत्त्वोंके अंदर अपने पूर्ण ज्ञानके साथ है जिसे जान लेनेपर जाननेको और कोई बात नहीं रह जाती। अज्ञानकी वह ग्रंथि जिसने अबतक उसकी मानव बुद्धिको मोहित कर रखा था और जिससे उसका मन अपने भगवन्नियत कर्मसे फिर गया था, अब ज्ञान-विज्ञानसे छिन्न-भिन्न हो जायगी। यह सब ज्ञानोंका ज्ञान, सब गुह्योका गुह्य, राजविद्या, राजगुह्य है। यह वह पवित्र परम प्रकाश है जो प्रत्यक्ष आत्मानुभवसे जाना जा सकता है और कोई भी इस सत्यको अपने अंदर देख सकता है: यही यथार्थ और वास्तविक ज्ञान है, सच्ची आत्म-विद्या है। इसका साधन, इसे ग्रहण करने, देख लेने और सच्चाईसे पालन करनेका प्रयास करनेसे, सहज ही बनता है।

पर इसके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है, यदि श्रद्धा न हो, यदि उस तार्किक बुद्धिका ही भरोसा हो जो बाह्य विषयोंके भरोसे चलती है और अभ्यासे अंतर्दृष्ट ज्ञानपर इस कारण सदेहान्वित होती है कि वह बाह्य प्रकृतिके भेदो और अपूर्णताओंके साथ मेल नही खाता और बुद्धिके परेकी चीज मालूम होता तथा कोई ऐसी बात बतलाता जान पड़ता है जो हमे हमारी वर्तमान अवस्थाकी मूलभूत खास बातोंका ही जैसे दु:ख, क्लेश, पाप, दोष, प्रमाद और स्खलन अर्थात् संपूर्ण अशुभका ही हमसे अतिक्रम कराती है—यदि वैसी बुद्धिका ही भरोसा है—तो उस महत्तर ज्ञानसे युक्त जीवन-की कोई संभावना नही है। यदि उस महत्तर सत्य और विधान-पर जीवकी श्रद्धा न जमे, तो उसे मृत्यु, प्रमाद और अशुभके अधीन रहकर सामान्य मर्त्य जीवन जीनेके लिये लौट आना पड़ेगा; उन परमेश्वरके स्वरूपमे वह विकसित नही हो सकता जिनकी

सत्ताको ही वह अमान्य करता है। कारण यह एक ऐसा सत्य है जो जीवनमें लाना पड़ता है, जो जीवके बढ़ते हुए आत्मप्रकाशमे जीकर जानना पडता है, मन-बुद्धिके अंधकारमे तर्कसे टटोलकर नही जाना जाता। उसीके रूपमे विकसित होना होता है, वही हो जाना होता है—उसकी सत्यता परखनेका यही एकमात्र मार्ग है। निम्नगतिक जीवभावको पार करके ही कोई वास्तविक भगवदीय दिव्यात्मा बन वास्तविक आत्मसत्ताको सत्य आचरणमें ला सकता है। अन्य जो कोई सत्याभास है जो इस एक, सत्यके विरोधमे खडे किये जा सकते है वे सब निम्नगा प्रकृतिके रूप है। निम्नगा प्रकृतिके इस अशुभसे मुक्त होना उस परतर ज्ञानको ग्रहण करनेसे ही बन सकता है जिसमें यह सत्याभास, यह अशुभ अपने स्वरूपका अंततः मिथ्या होना जान लेता है, यह स्पष्ट देख पड़ता है कि यह हमारे अंधकारकी सृष्टि थी। पर इस प्रकार दिव्य परा आत्मप्रकृतिके मुक्त भावकी ओर विकसित होनेके लिये यह आवश्यक है कि हमे यह विश्वास हो जाय कि हमारी इस वर्तमान परिच्छिन्न प्रकृतिके अंदर भगवान् गुप्त रूपसे निवास करते है और उन भगवान्को हम वरण कर लें। जिस कारणसे यह योग संभावित और सुखसाध्य होता है वह कारण यही है कि इसका साधन करनेमें हम अपनी सपूर्ण प्रकृतिका व्यापार उन्ही अंतस्थ भगवान्के हाथोंमें सौप देते है। भगवान् हमारी सत्ता अपनी सत्तामें मिलाकर और अपने ज्ञान और शक्तिको, ज्ञानदीपेन भास्वता, उसमें भरकर सहज, अचूक रीतिसे हमारे अंदर क्रमसे हमारा दिव्य जन्म कराते है; हमारी तमसाच्छन्न अज्ञानमयी प्रकृतिको अपने हाथोंमे ले लेते और अपने प्रकाश और व्यापक भावमें रूपां-

तरित कर देते हैं। जो कुछ पूर्ण विश्वासके साथ और अहंकार-रहित होकर हम मान लेते और उनके द्वारा प्रेरित होकर होना चाहते हैं, उसे अंतस्थ भगवान् निश्चय ही सिद्ध कर देते हैं। परंतु पहले अहंभावापन्न मन-बुद्धि और प्राणको अर्थात् इस समय हम जो कुछ हैं या भासित होते हैं उसे इस दिव्यता-लाभके लिये, हमारे अंदर जो अंतस्तम गुप्त भगवत्स्वरूप है, उसकी शरण लेनी होगी।

५

भगवदीय सत्य और मार्ग

गीता अब परम और समग्र रहस्यको, उस एकमात्र ध्येय और सत्यको जिसमें पूर्णतासिद्धि तथा मुक्तिके साधकको रहना सीखना होगा, तथा उसके सब आध्यात्मिक अंगों और उनके समस्त व्यापारोंकी पूर्णतासिद्धिके एकमात्र विधानको खोलकर प्रकट करना चाहती है। यह परम रहस्य है उन परात्पर परमेश्वरका स्वरूपरहस्य जो समग्र हैं और सर्वत्र हैं, पर जगत् तथा उसके नाना नामरूपोंसे इतने महत्तर और इतर हैं कि यहांकी किसी वस्तुमें वे समा नहीं सकते, कोई वस्तु उन्हें वास्तविक रूपमें प्रकट कर नहीं सकती और न कोई भाषा ही, जो दिक्कालावच्छिन्न पदार्थोंके रूपों और उनके परस्परसंबंधोंसे ही निर्मित हुआ करती है, उनके अचिंतनीय स्वरूपको किसी प्रकार लक्षित करा सकती है। फलतः हमारी पूर्णतासिद्धिका विधान है अपनी संपूर्ण प्रकृतिके द्वारा उनका यजन-पूजन जो उसके मूल और उसके स्वामी हैं और उन्हींको इसका आत्मसमर्पण। हमारा परम मार्ग यही है कि इस जगत्में हमारी जो कुछ सत्ता है, केवल उसका कोई

यह वा वह अंश नहीं, वह सब प्रकारसे उन सनातन पुरुषकी ओर ले जानेवाला एक ही कर्म बना दी जाय। ऐश्वर योग-की शक्ति और रहस्यमयी कृतिसे हम लोग उनकी अनिर्वचनीय गुह्यातिगुह्य स्थितिसे निकलकर प्राकृत पदार्थोंकी इस बद्ध दशामें आ गये है। अब उसी ऐश्वर योगकी उल्टी गतिसे हमे इस बाह्य प्रकृतिकी सीमाओंको पार करना होगा और उस महत्तर चैतन्यको फिरसे प्राप्त होना होगा जिसे प्राप्त होनेसे हम पर-मेश्वर और परम सनातन तत्त्वमें रह सकते हैं।

परमेश्वरकी परा सत्ता व्यक्तिके परे है; उनकी यथार्थ सना-तनी मूर्त्ति जड़ शरीरमें प्रकट नही होती, न प्राण उसे ग्रहण कर सकता है न मनसे उसका चिंतन ही हो सकता है, क्योंकि वह "अचिन्त्यरूप, अव्यक्तमूर्त्ति" है। हम जो कुछ देखते है वह केवल एक स्वरचित रूप है, भगवान्‌का सनातन स्वरूप नही। कोई और भी है या कोई वस्तु है जो जगत्‌से भिन्न है, वह है अकथ, अचित्य, अनत भगवत्तत्त्व जो अनंतविपयक हमारी व्यापक-से-व्यापक या सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओंसे प्राप्त हो सकनेवाले किसी भी आभासके सर्वथा परे है। यह जो नानाविध पदार्थोंका बाना है जिसे हम जगत् नामसे पुकारते है, यह जो अनेकविध गतियोंका एक महान् जोड़ है जिसकी हम कोई हद नही बांध सकते और जिसके नाना रूपों और गतियोके अंदर हम कोई स्थायी वस्तु, कोई ध्रुव पद, कोई समतल आधारभूमि और विश्वकी नाभि ढूंढनेका व्यर्थ ही प्रयास किया करते है उसे इसी महतो महीयान् अनंतने अपनी अनिर्वचनीय विश्वातीत रहस्यमयी शक्तिसे ही तान रखा है, रूपान्वित किया है और फैलाया है। इसकी

मूल भित्ति है एक ऐसी आत्मनिरूपण-क्रिया जो स्वयं अव्यक्त और अचिंत्य है। यह सारा प्रभव जो प्रतिक्षण बदलता और चलता रहता है, ये सब जीव, ये सारे चराचर प्राणी, पदार्थ, सांस लेने और जीनेवाले रूप अपने अंदर व्यष्टि रूपसे या समष्टि-रूपसे भी उन भगवान्‌का अंतर्भाव नहीं कर सकते। अर्थात् वे उनमें नहीं हैं; उनके अंदर या उनके द्वारा वे नहीं जीते, चलते या बने रहते—भगवान् भूतभाव नहीं हैं। बल्कि भूत ही उनके अंदर हैं, भूत ही हैं जो उनके अंदर जीते, चलते और उन्हींसे अपने स्वरूपका सत्य आहरण करते हैं; भूत उनके भूतभाव हैं और वे उनकी आत्मसत्ता हैं।[1] अपनी दिक्कालातीत अचिंत्य अनंत सत्ताके अंदर उन्होंने एक असीम देशकालमें एक असीम संसारका यह छोटासा दृश्य विस्तृत किया है।

और यह कहना भी कि सब कुछ उनके अंदर है, इस विषयका संपूर्ण सारतत्त्व नहीं है न यह पूर्ण रूपसे वास्तविक संबंधका ही द्योतक है; कारण उनके विषयमें यह कहना देशकी कल्पना करके कहना है, पर भगवान् तो देशातीत और कालातीत हैं। देश और काल, अंतर्यामित्व और व्यापकत्व और परत्व ये सभी उनके चिद्भावके पद और प्रतीक हैं। ईश्वरी शक्तिका एक योग है—'ऐश्वर योग', मे योग ऐश्वरः जिससे भगवान् अपना रूप अपनी ही विस्तृत अनंतताके चैतन्यगत स्वरूपसाधनके रूपसे निर्मित करते हैं, जड़ रूपसे नहीं; जड तो उस अनंत वितानका एक प्रतीकमात्र है। भगवान् उसके साथ अपने-आपको एकीभूत

---

[1] मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

देखते हैं, उसके साथ तथा उसके अंदर जो कुछ है उसके साथ वे तद्रूप होते हैं। सर्वेश्वरवादी जगत् और ब्रह्मका जो अभेद-दर्शन करते हैं वह उस अनंत आत्मदर्शनके सामने एक परिच्छिन्न दर्शन ही है जिस अनंत आत्मदर्शनमें, जो फिर भी उनका संपूर्ण देखना नहीं है, वे (भगवान्) यह सब जो कुछ है उसके साथ एक होते हुए भी इसके परे हैं। परंतु वे इस ब्रह्मसे या ब्रह्म-सत्ताकी इस वितत अनंततासे भी जिसके अंदर यह सारा विश्व है और जो विश्वातीत है—उससे भी—इतर हैं। सब कुछ यहां उन्हींके विश्वचित् अनंत स्वरूपमें स्थित है, पर वह स्वरूप भी भगवान्के उस विश्वातीत स्वरूपके द्वारा अपनी आत्म-कल्पना-के रूपमें धृत है जो स्वरूप हमारी जागतिक स्थिति, सत्ता और चेतनाकी वाणीके सर्वथा परे है। उनकी सत्ताका यह रहस्य है कि वे विश्वातीत हैं पर किसी प्रकार विश्वसे अलग नहीं। कारण विश्वात्माके रूपसे वे इस सबके अंदर व्याप्त हैं; भगवान्-की एक ज्योतिर्मय अलिप्त आत्मसत्ता है जिसे गीतामें भगवान् 'मम आत्मा' कहकर लक्षित कराते हैं, जो सब भूतोंके साथ संतत संबद्ध है और केवल अपनी सत्तामात्रसे अपने सब भूतभावों-को प्रकट कराती है।[1] इसी भेदको स्पष्ट करनेके लिये आत्मा और 'भूतानि', ये दो पद हैं—एकसे वह आत्मा लक्षित होता है जो स्वस्वरूपमें अपनी ही सत्तासे स्थित है और दूसरेसे अर्थात् 'भूतानि' पदसे वह भूत-सत्ता लक्षित होती है जो आश्रित है। ये ही क्षर और अक्षर पुरुष हैं। परंतु इन दो परस्पर-सापेक्ष

---

[1] भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।

सत्ताओंका आधारभूत परम सत्य वही सत्ता हो सकती है तथा इनके परस्पर-विरोधका निराकरण भी उसी सत्तासे हो सकता है जो इसके परे हो; वह सत्ता है उन परम-पुरुष भगवान्‌की जो अपनी योगमाया अर्थात् अपने आत्मचैतन्यकी शक्तिके द्वारा इस धारक आत्मा और धृत जगत् दोनोंको प्रकट करते हैं। और उन भगवान्‌के साथ अपने आत्म-चैतन्यसे युक्त होकर ही हम उनके स्वरूपके साथ अपना वास्तविक संबंध जोड़ सकते हैं।

दार्शनिक भाषामें गीताके इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है: परंतु इनका आधार कोई बौद्धिक उत्प्रेक्षा नहीं बल्कि आत्मानुभूति है; इनसे इन परस्परविरोधी सत्योंका जो समन्वय होता है उसका कारण भी यही है कि आत्मचैतन्यके कुछ प्रत्यक्ष अनुभूत सत्योंसे ही ये उद्‌गार वर्त्तुलाकार निकल पड़े हैं। जगत्‌में छिपे या प्रकट जो कोई परमात्मा या विश्वात्मा हों उनसे जब हम अपनी विविध चेतनाके साथ योग करनेका यत्न करते हैं तब हमें किसी न किसी प्रकारका कोई विशिष्ट अनुभव होता है और ऐसे जो अनुभव प्राप्त होते हैं उन्हें विभिन्न बुद्धिवादी विचारक सद्वस्तुके संबंधमें अपना-अपना मूल भाव बना लेते हैं। सर्वप्रथम हमें एक ऐसी भगवत्सत्ताका कुछ अधूरासा अनुभव होता है जो हम लोगोंसे सर्वथा भिन्न और महान् है, जिस जगत्‌में हम लोग रहते हैं उससे भी सर्वथा भिन्न और महान् है; और यह बात ऐसी ही है—इसमें अधिक और कुछ भी नहीं जबतक कि हम अपने प्राकृत स्वरूपमें ही रहते और अपने चारों ओर जगत्‌के प्राकृत रूपको ही देखते हैं। कारण भगवान्‌का परम स्वरूप जगदतीत है और जो कुछ प्राकृत है वह स्वयंबुद्ध आत्माकी अनंततासे इतर

मालूम होता है, मिथ्या नहीं तो कम-से-कम एक अपर सत्यका केवल प्रतीकसा प्रतीत होता है। जब हम केवल इस प्रकारकी भेदस्थितिमें रहते हैं तब भगवान्को मानों विश्वसे पृथक् और इतर मानते हैं। इस प्रकार वे पृथक् और इतर हैं केवल इसी अर्थमें कि वे विश्वके परे होनेके कारण विश्वप्रकृति और उसकी सृष्टियोंके अंदर नहीं है पर इस अर्थमें नहीं कि ये सब सृष्टियां उनकी सत्ताके बाहर हों; कारण सर्वत्र एकमात्र सनातन और सद्रूप सत्ता ही है, उसके बाहर कुछ भी नहीं है। भगवत्सत्ताके संबंधमें इस प्रथम सत्यको हम तब आत्मबोधके द्वारा अनुभव करते हैं जब हमें यह अनुभव होता है कि हम उन्हींके अदर रहते और चलते-फिरते हैं, उन्हींके अंदर हमारी सारी सत्ता और सारा जीवन है, चाहे हम उनसे कितने भी भिन्न हों हमारा अस्तित्व उन्हींपर निर्भर करता है और यह सारा विश्व उन्हीं परमात्माके ही अंदर घटित होनेवाला एक दृग्विषय और व्यापार है।

परंतु फिर इसके आगे, इससे परतर यह अनुभव होता है कि हमारी आत्मसत्ता उनकी आत्मसत्ताके साथ एक है। वहां हम सर्वभूतोंके एकमेव आत्माको अनुभव करते हैं, उसकी हमें चिदनुभूति होती है और उसके प्रत्यक्ष दर्शन भी। तब हम यह नहीं कह सकते न ऐसा सोच सकते हैं कि हम उससे सर्वथा भिन्न हैं; परंतु आत्मवस्तु और इस स्वत सिद्ध आत्मवस्तुका जगद्रूप आभास, ये दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं—आत्मामें सब कुछ एक अनुभूत होता है और जगद्रूप सब कुछ भिन्न-भिन्न दीखता है। आत्माके साथ अभेदकी ऐकांतिक पराकाष्ठामें यह जगत् स्वप्नवत् और मिथ्यातक अनुभूत हो सकता है। परंतु द्विविध भावकी द्विविध

पराकाष्ठामें यह द्विविध अनुभव भी होता है कि भगवान्‌के साथ हमारा परम स्वतःसिद्ध एकत्व है और साथ ही हम उनके साथ भिन्न रूपसे तथा विविध संबंधोंसे युक्त हुए एक ऐसे चिरंतन रूपमें रहते हैं जो उन्हींसे निकला हुआ रूप है। यह जगत् और इस जगत्‌में हमारा रहना हमारे लिये तब भगवान्‌की आत्मविद् सत्ताका ही एक सतत और वास्तविक रूप बन जाता है। सत्यकी इस अपूर्ण अनुभूतिमें हमारे और भगवान्‌के बीच तथा सनातनकी इन सब चराचर शक्तियों और जगत्प्रकृतिस्थ विश्वात्माके साथके हमारे व्यवहारोंमें परस्पर नानाविध भेदसंबंध हुआ करते हैं। ये भेदसंबंध विश्वातीत सत्यसे इतर हैं, आत्मचैतन्यके शक्तिविशेषकी ये विकृत सृष्टियां हैं; और चूंकि ये इतर हैं और हैं विकार ही, वे लोग जो विश्वातीत निरपेक्ष ब्रह्मके अनन्य उपासक हैं, इन्हें अपेक्षाकृत अथवा सर्वथा मिथ्या करार देते हैं। फिर भी ये हैं भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींकी सत्तासे निकले हुए सत्तावान् रूप, न-कुछसे निकली हुई कोई मायिक चीज नहीं। कारण, आत्मा जहां भी जो कुछ देखता है वह सब वह सदा स्वयं ही है, उसीका प्रतीक है और वह उससे सर्वथा भिन्न कोई और वस्तु नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि विश्वातीत परमात्मसत्तामें कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है जो इन सब संबंधोंसे किसी प्रकारका सारूप्य रखती हो। हम यह तो नहीं कह सकते कि ये सब विकार हैं तो उसी मूलसे उत्पन्न चेतनाके पर उस मूलमें कोई ऐसी चीज नहीं है जो किसी प्रकार इन्हें आश्रय देती हो या जो इनके अस्तित्वको युक्तियुक्त सिद्ध करती हो, कोई ऐसी चीज नहीं जो इन सब रूपोंका सनातन सद्रूप और परात्पर मूलतत्त्व हो।

फिर यदि हम एक दूसरे ढंगसे आत्मा और आत्माके इन सब रूपोंके भेदको देखें तो ऐसा समझ सकते हैं कि यह आत्मा सबका धारणकर्त्ता है और सबके अंदर व्याप्त है, सर्वत्र अवस्थित आत्म-वस्तुका होना इस तरह हम मान ले सकते हैं, पर फिर भी आत्माके ये रूप, उसकी सत्ताके ये सब पात्र हमें न केवल आत्मेतर, न केवल अनित्य पदार्थ ही, वल्कि मिथ्याभास प्रतीत हो सकते हैं। इस प्रकारकी अनुभूतिमें हमें आत्मानुभव तो हुआ, उस अक्षर ब्रह्मका अनुभव हुआ जिसकी साक्षि-दृष्टिमें जगत्की सारी क्षरताएं सतत विद्यमान हैं; यहां अपने अंदर और सब प्राणियोंके अंदर अंतर्यामी भगवान्की पृथक्, एक साथ या एकीभूत अनुभूति हुई। और फिर भी जगत् हमारे लिये उनकी और हमारी चेतनाका केवल एक प्रातिभासिक रूप हो सकता है, अथवा सत्ताका केवल एक ऐसा प्रतीक या संकेत हो सकता है जिससे हम उनके साथ अपने विशिष्ट संबंध जोड़ते चलें और क्रमशः उन्हे जानते जायं। पर इसके विपरीत, हमें एक ऐसा प्रत्यक्ष आत्मानुभव हो सकता है जिसमें हम सब पदार्थोंको भगवान् ही देखें, केवल उस ब्रह्म ही को नहीं जो इस जगत् और इसके असंख्य प्राणियोंमें अक्षर रूपमें विराजता है, वल्कि यह सब जो कुछ अदर वाहर समस्त भूतभाव है उसे भी भगवद्रूपमें ही देखें। तव यही प्रत्यक्ष होता है कि यह सब जो कुछ है भगवत्सत्ता है और इस रूपमें हमारे अंदर और अखिल ब्रह्मांडके अंदर भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। यदि यह अनुभूति एकदेशीय हुई तो सर्वेश्वरवादीय (pantheistic) साक्षात्कार होता है उन सर्वमय हरिका जो सर्व है: पर यह सर्वेश्वरवादी (pantheistic) दर्शन केवल आंशिक दर्शन

ही है। यह सारा संसार-विस्तार ही वह सर्व नहीं है जो कि आत्मतत्त्व या ब्रह्म है, कोई सनातन वस्तुतत्त्व है जो संसारसे बड़ा है और उसीसे ससारकी सत्ता बनती है। विश्वब्रह्मांड ही तत्त्वतः संपूर्ण भगवत्तत्त्व नहीं, बल्कि यह उसका केवल एक आत्माविर्भाव है, आत्मसत्ताकी एक सच्ची पर गौण क्रिया है। ये सारे अनुभव सकृद्दर्शनमें चाहे कितने ही परस्परभिन्न या विरुद्ध हों, फिर भी इनका सामंजस्य हो सकता है यदि हम एकदेशीय बुद्धिसे किसी एकपर ही जोर न दें बल्कि इस सीधे-सादे सरल सत्यको समझ लें कि भगवत्तत्त्व विश्वब्रह्मांडकी सत्तासे कोई महान् वस्तु है, परंतु फिर भी सारा विश्व और विश्वके सारे भिन्न-भिन्न पदार्थ भगवद्रूप ही हैं, और कुछ नही—हम कह सकते हैं कि वे भगवान्के ही द्योतक हैं। अवश्य ही भगवान् इन रूपोंके किसी अंशमें या इनके समुच्चयमें पूर्णतया प्रकट नही हैं तथापि ये रूप हैं उनके ही सूचक। परंतु यदि ये भगवत्सत्ताकी ही कोई चीज न होते, बल्कि उससे भिन्न कोई दूसरी ही चीज होते तो ये भगवान्के सूचक न हो सकते। सत्यस्वरूप या सत्तत्त्व तो भगवान् ही हैं; पर ये रूप उन्हीके अभिव्यंजक सत्तत्त्व हैं।[1]

---

[1] निरपेक्ष सत्यके सामने चाहे ये हमें अपेक्षाकृत असत्से ही प्रतीत होते हों, श्रीमान् शंकराचार्यका मायावाद, अपने तार्किक आधारके रहते भी, आध्यात्मिक अनुभूतिकी दृष्टिसे विचारनेपर इसी सापेक्ष असत्का बढ़ाकर किया हुआ वर्णनमात्र प्रतीत होता है। मन-बुद्धिके परे इस तरहकी कोई उलझन नहीं रहती क्योंकि वहां ऐसी कोई उलझन कभी थी ही नही। वहां,

"वासुदेवः सर्वमिति"का यही अभिप्राय है, यह सारा जगत् जो कुछ है भगवान् हैं, इस जगत्में जो कुछ है और इस जगत्से जो कुछ अधिक है वह भी भगवान् है। गीता प्रथमतः भगवान्की विश्वातीत सत्ताकी ओर विशेष ध्यान दिलाती है। कारण, यदि ऐसा न किया जाय तो मन-बुद्धि अपने परम ध्येयको न जानेगी और विश्वगत सत्ताकी ओर ही मुड़ी रहेगी अथवा जगत्में स्थित भगवान्की किसी आंशिक अनुभूतिमें ही आसक्त हुई अटक रहेगी। इसके अनंतर गीता भगवान्की उस विश्वसत्तापर जोर देती है जिसमें सब पदार्थ और प्राणी जीते और कर्म करते हैं। कारण जागतिक प्रयासका यही औचित्य है और वही वह विराट् आध्यात्मिक आत्मसंवित् है जिसमें भगवान् अपने-आपको काल-पुरुषके रूपमें देखते हुए अपना जगत्कर्म करते हैं। इसके बाद गीताने भगवान्को मानवशरीरनिवासीके रूपमें ग्रहण करनेकी बात विशेष गंभीर आग्रहके साथ कही है। कारण, भगवान् सब भूतोंमे अंतर्यामी रूपसे निवास करते ही हैं, और यदि अंतःस्थित भगवान्को न माना जाय तो न केवल वैयक्तिक जीवनका गुप्त भागवत अभिप्राय समझमें न आयगा, अपनी परम आध्यात्मिक भवितव्यताकी

विभिन्न धार्मिक संप्रदायों और दर्शनों या योगशास्त्रोंकी आधारभूत पृथक्-पृथक् अनुभूतियोंका कुछ दूसरा ही रूप हो जाता है, उनसे निकलनेवाले विभिन्न बौद्धिक सिद्धांत छूट जाते हैं और उनका समन्वय हो जाता है, और जब ये अपनी उच्चतम समान प्रगाढ़ताको प्राप्त होते हैं तब पारबौद्धिक आनंत्यमे इनका एकीकरण होता है।

ओर हमारी जो प्रवृत्ति है उसकी एक सबसे बड़ी शक्ति ही नष्ट न होगी, बल्कि मानव आत्माओंके परस्परसंबंध भी क्षुद्र, अति-सीमित और अहंभावापन्न ही होंगे। अंतमे, गीताने विस्तारके साथ यह बतलाया है कि संसारके सब पदार्थोंमें भगवान्‌का ही प्राकटच हो रहा है और इन सब पदार्थोंका मूल उन्हीं एक भगवान्‌की ही प्रकृति, शक्ति और ज्योति है, कारण, सब पदार्थों-को इस रूपमें देखना भी भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यंत आवश्यक है; इसीपर प्रतिष्ठित है समस्त भाव और समस्त प्रकृतिका भगवान्‌की ओर पूर्ण रूपसे मुड़ना, जगत्‌मे भाग-वत शक्तिके कर्मोका मनुष्यके द्वारा स्वीकार किया जाना और उसके मन और बुद्धिका उस भगवत्कर्मके साचेमें ढल सकना जिसका उपक्रम परमसे होता, हेतु जागतिक होता और जो जीवसे होकर जगत्‌को प्राप्त होता है।

तात्पर्य, परम पुरुप परमेश्वर, विश्वचेतनातीत अक्षर आत्मा, मानव आधारमे स्थित व्यष्टि-ईश्वर और विश्व-प्रकृति तथा उसके सब कर्मो और प्राणियोंमें गुप्त रूपसे चैतन्यस्वरूप अथवा अंशतः आविर्भूत ईश्वर सब एक ही भगवान् है। परंतु इस एक ही भगवत्सत्ताके ये जो विभिन्न भाव है इनमेंसे किसी भी एक भाव-का जो यथार्थ वर्णन हम पूर्ण विश्वासके साथ कर सकते हैं उसे जब भगवत्सत्ताके अन्य भावोंपर घटानेका प्रयत्न करते हैं तब वह वर्णन उलट जाता या उसका अभिप्राय बदल जाता है। जैसे भगवान् ईश्वर है, पर इसलिये उनके इस ईश्वरत्व और प्रभुत्वको हम भगवत्सत्ताके इन चारों ही क्षेत्रोपर एकसा, बिना किसी परि-वर्त्तनके, यों ही नहीं घटा सकते। विश्वप्रकृतिमें प्रकटीभूत भगवान्-

के नाते वे प्रकृतिके साथ तदाकार होकर कर्म करते हैं। वहां वे स्वयं प्रकृति हैं ऐसा कह सकते हैं, पर प्रकृतिकी सारी क्रियाओं-के अंदर उन्हींकी वह आत्मशक्ति होती है जो पहलेसे देखती और पहलेसे संकल्प करती है, समझती और प्रवृत्त करती है, प्रकृतिको अवश कर उसमे कर्म कराती है और फिर फलका विधान करती है। सबके एकमेव निष्क्रिय शांत आत्माके नाते वे अकर्त्ता है, केवल प्रकृति ही कर्त्री है। इन सारे कर्मोंको जीवोंके स्वभाव-के अनुसार करना वे प्रकृतिपर छोड देते है, "स्वभावस्तु प्रवर्तते"; फिर भी वे प्रभु है, विभु है, क्योंकि वे हमारे कार्योंको देखते और धारण करते हैं तथा अपनी मौन अनुमतिसे प्रकृतिको कर्म करनेमें समर्थ बनाते है। वे अपनी अक्षरतासे परमेश्वरकी शक्तिको अपनी व्यापक अचल सत्तामेंसे प्रकृतितक पहुचाते है और अपने साक्षिस्वरूपकी सर्वत्र सम दृष्टिसे उसके कार्योंको आश्रय देते है। विश्वातीत परम पुरुष परमेश्वरके नाते वे सबके प्रभव करनेवाले है; सबके ऊपर है, सबको प्रकट होनेके लिये विवश करते है, पर जो कुछ सृजते है उसमे अपने-आपको खो नही देते और न अपनी प्रकृतिके कर्मोंमें आसक्त ही होते है। उन्हीकी सर्वोपरि सर्वसंचालक प्रभवेच्छा प्राकृत कर्ममात्रके सब कारणोंमें मूल कारण है। व्यष्टि पुरुषमें अज्ञानकी अवस्थामें वे वही अंतःस्थित निगूढ़ ईश्वर हैं जो हम सब लोगोंको प्रकृतिके यंत्रपर घुमाया करते है। इस यंत्रके साथ यंत्रके एक पुरजेके तौरपर हमारा अहंकार घूमा करता है, यह अहंकार प्रकृतिके इस चक्रमे बाधक और साधक दोनों ही एक साथ हुआ करता है। पर प्रत्येक जीवमें रहनेवाले ये भगवान् समग्र भगवान् ही होते है, इसलिये हम अज्ञानकी दशा-

को पार कर इस संबंधके ऊपर उठ सकते हैं। कारण हम अपने-आपको सर्वभूतस्थित एकमेव अद्वितीय आत्माके साथ तद्रूप कर साक्षी और अकर्त्ता बन सकते हैं। अथवा हम अपने व्यष्टि-पुरुषको अपने अंतःस्थ परम पुरुष परमेश्वरके साथ मानव आत्मा-का जो संबंध है उस संबंधसे युक्त कर सकते हैं और उसे उसकी प्रकृतिके सब अंशोंमें उन परमेश्वरके कार्यका निमित्त (निमित्तकारण और करण) तथा उसकी परा आत्मसत्ता और पुरुष-सत्तामें उसे उन स्वान्तस्थ विधाताके परम, स्वतंत्र और असक्त प्रभुत्वका एक महान् भागी बना सकते हैं। हमें इस बातको गीतामें स्पष्टतया देखना होगा; एक ही सत्यके ये जो विभिन्न भाव संबंधभेद और तज्जन्य प्रयोगभेदसे हुआ करते हैं, इनके लिये अपने विचारमें अवकाश रखना होगा। अन्यथा हमें परस्परविरोध और विसंगति ही देख पडेगी जहां कोई परस्परविरोध या विसंगति नही है अथवा अर्जुनकी तरह हमें भी ये सब वचन एक पहेलीसे मालूम होंगे और हमारी बुद्धि चकरा जायगी।

अब देखिये, गीता कहती है कि परम पुरुषके अंदर सारे पदार्थ हैं पर वे पुरुष किसीमें नहीं हैं, "मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः (सब मेरे अंदर स्थित हैं, पर मैं उनके अंदर नही)", पर इसके बाद ही फिर गीताने कहा, "न च मत्स्थानि भूतानि .... भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः (मेरे अंदर सब भूत नहीं हैं .....मेरा आत्मा सब भूतोंका धारण करने-वाला है, भूतोंमें रहनेवाला नही)।" और फिर इसके बाद परस्पर विरोधाभासके साथ गीताने यह बात कही कि मनुष्यशरीरमें भगवान्‌ने अपना वासस्थान, अपना घर कर

लिया है, "मानुषीं तनुमाश्रितम्," और इस सत्यको जान लेना कर्म, भक्ति और ज्ञानके समग्र मार्गके द्वारा जीवके मुक्त होनेके लिये आवश्यक है। ये सब वचन केवल देखनेमें ही परस्पर-विसंगत है। परम पुरुष परमेश्वरके नाते भगवान् भूतोंमें नहीं है, और न भूत उनमें है, कारण आत्मभाव और भूतभावमें जो भेद हम लोग करते है वह केवल पांचभौतिक जगत्के आविर्भावके संबंधमें ही करते है। विश्वातीत सत्तामे तो सभी सनातन आत्मा है और सब, यदि वहां भी अनेकत्व है तो सनातन आत्मा ही है। वहांके लिये रहनेका स्थानसंबंधी प्रश्न भी उत्पन्न नहीं हो सकता, कारण विश्वातीत निरपेक्ष आत्मा देश और कालके प्रत्ययों (concepts) से अवच्छिन्न नही होता, देश और काल तो भगवान्की योगमायासे यहां सिरजे जाते है। वहां आत्मामें सबका अधिवास है, देश या कालमें नही; वहांकी भित्ति आत्मिक स्वरूपता और सहस्थिति ही हो सकती है। परंतु इसके विपरीत विश्वके प्राकट्यमें परम अव्यक्त विश्वातीत पुरुषके द्वारा देश और कालके अंदर विश्वका विस्तार है, और उस विस्तारमें वे प्रथम उस आत्माके रूपमें प्रकट होते है जो 'भूतभृत्' है अर्थात् सब भूतोंको धारण करनेवाला है, वही अपनी सर्वव्यापक आत्मसत्तामें सबको धारे रहता है। और इस सर्वत्रावस्थित आत्माके द्वारा भी वे परम पुरुष परमात्मा इस जगत्को धारण किये हुए है ऐसा कहा जा सकता है; वे ही उसकी अदृश्य आत्मप्रतिष्ठा और सब भूतोंके प्रभवका गुप्त आत्मिक कारण हैं। वे इस जगत्को उसी प्रकार धारण किये हुए है जिस प्रकार हमारी अंतःस्थ गुप्त आत्मा हमारे विचारों, कर्मो और व्यापारोंको धारण करती है। मन,

प्राण, शरीरमें वे व्यापक और इन्हें अपने अंदर रखे हुए, अपनी सत्तामें इन्हें धारण किये हुएसे प्रतीत होते हैं। परंतु यह व्यापकता स्वयं ही चैतन्यकी एक क्रिया है, जड़की नहीं; स्वयं शरीर आत्माके चैतन्यकी ही एक सतत क्रिया है।

सब भूत इन परमात्माके अंदर हैं; सब उनमें अवस्थित हैं, वस्तुतः जड़ रूपमें नहीं, बल्कि आत्मसत्ताके ही उस विस्तृत आध्यात्मिक आधानके रूपमें जिसके संबंधमें हम जो यह कल्पना करते हैं कि वह यही पार्थिव और आकाशीय अवकाश है, यह बड़ी ही संकुचित कल्पना है और वैसी ही है जैसी कि भौतिक मन-बुद्धि और इंद्रियां उसकी कल्पना कर सकती हैं। वास्तवमें यहां भी जो कुछ है, सब आध्यात्मिक सहस्थिति, सहत्व और सहघटन है; पर यह वह मौलिक सत्य है जिसे हम व्यवहारमें नहीं ला सकते जबतक कि हम उस परम चैतन्यको पुनः प्राप्त न हो जाय। तबतक यह भावना केवल एक ऐसा बौद्धिक प्रत्यय ही रहेगी जिसका कोई सजातीय अनुभव हमें अपने व्यावहारिक जगत्में प्राप्त न होगा। अतः देशकालसे संबद्ध इन पदोंका प्रयोग करते हुए हमें यों कहना चाहिये कि यह जगत् और इसके सब प्राणी स्वत.स्थित भगवान्मे वैसे ही रहते हैं जैसे अन्य सब कुछ आकाशके मूल अवकाशमें रहता है, जैसा कि भगवान् स्वयं ही अर्जुनसे कहते हैं कि, "यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय (जिस प्रकार सर्वत्र संचार करनेवाला वायुतत्त्व आकाशमें रहता है, उसी प्रकार तुम समझो कि सब प्राणी मेरे अंदर रहते है।)" विश्वसत्ता सर्वव्यापक और अनंत है और स्वत.सिद्ध भगवान् भी सर्वव्यापक और अनंत

है; पर स्वतःस्थित आनंत्य स्थिर, अचल, अक्षर है और विश्वका आनंत्य "सर्वत्रगः" सर्वव्यापक गतिरूप है। आत्मा एक है, अनेक नही; पर विश्वात्मा 'सर्वभूतानि'के रूपमें प्रकट होता है और ऐसा मालूम होता है मानो यह सब भूतोंका जोड़ है। एक आत्मा है; दूसरी आत्माकी शक्ति है जो मूल, आधारस्वरूप, अक्षर आत्माकी सत्तामें गतिमान् है, सिरजती है और कर्म करती है। आत्मा इन सब भूतोंमें या इनमेंसे किसीमें वास नही करता, यह कहनेका अभिप्राय यह कि वे किसी पदार्थके अंतर्भूत नही है, ठीक वैसे ही जैसे आकाश किसी रूपके अतर्भूत नही है यद्यपि सब रूप मूलतः आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं। सब भूत मिलकर भी उन्हें अपने अंतर्भूत नही कर सकते न उनके घटक ही बन सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आकाश वायुतत्त्वके गतिमान् विस्तारके अंदर अंतर्भूत नहीं होता न वायुके सब रूप या शक्तियां आकाशको घटित ही कर सकती है। परंतु फिर भी गतिमें है भगवान् ही, एक होनेपर भी वे अनेकोमें प्रत्येकके ईश्वर होकर निवास करते है। ये दोनों ही संबंध उनके विषयमें एक साथ सत्य हैं। एक आत्मसत्ताका जागतिक गतिके साथ संबंध है; और दूसरा अर्थात् प्रत्येक रूपमें जो उनका अधिवास है वह उन्हींकी जागतिक सत्ताका अपने ही विभिन्न रूपोंके साथ संबंध है। एक अपने अंदर सबका अंतर्भाव करनेवाला अक्षरत्व, स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्व है, और दूसरा उसी आत्माका शक्तितत्त्व है जो अपने ही आवरण और प्राकट्यकी विभिन्न शक्तियोंके संचालन और निरूपणके रूपमें प्रकट है।

परम पुरुष जगत्के ऊर्ध्वमूलसे अपनी प्रकृतिको दबाते हैं,

इसलिये कि प्रकृतिके अंदर जो कुछ है, जो कुछ एक बार व्यक्त हो चुका था और पीछे जो अव्यक्तमें लीन हुआ उसका सनातन चक्र फिरसे प्रवर्त्तित हो। विश्वके सब प्राणी इसी अंत:प्रेरणाके तथा व्यक्त-सत्तासंबंधी उन विधानोंके वशीभूत होकर ही कर्म करते हैं जिनके द्वारा विश्वगत सामंजस्योंके रूपमें भगवान्‌की सर्व-रूप सत्ता अभिव्यक्त होती है। इसी भागवत प्रकृतिके, "प्रकृति मामिकाम्, स्वां प्रकृतिम्" के कर्मके अंदर ही जीव अपने भवचक्र-का अनुवर्त्तन करता है। जीवका इस या उस व्यष्टिभावको प्राप्त होना उसी प्रकृतिके प्रगतिक्रममें होनेवाले स्थित्यंतरोंसे होता है; जीव उस भागवत प्रकृतिको ही प्रकट करता है और उसे प्रकट करनेमें अपने विशिष्ट स्वधर्मका ही पालन करता है, चाहे प्रकृति-की वह गति उच्चस्तरीण और प्रत्यक्ष हो अथवा निम्नस्तरीण और विकृत हो, ज्ञानके क्षेत्रमें हो या अज्ञानके; चक्रकी गति पूरी होनेपर प्रकृति अपनी प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर अचला और निष्क्रिय अवस्थाको लौट जाती है। अज्ञानकी दशामें जीव प्रकृतिके प्रवाह-के अधीन होता है, अपना आप मालिक नहीं बल्कि प्रकृतिके वश-में होता है—अवशः प्रकृतेर्वशात्; अपनी प्रभुता और मुक्त स्थिति-को वह फिरसे तभी प्राप्त हो सकता है जब वह लौटकर भाग-वत चैतन्यको पुनः प्राप्त हो। भगवान् भी प्रकृतिके इस चक्रका अनुगमन करते हैं, पर उसके वशमें रहकर नहीं बल्कि अंतरमें ही उसका निर्माण तथा मार्गदर्शन करनेवाले आत्माके रूपमें; उनकी सारी सत्ता इस स्थितिमें निवर्त्तित नहीं होती, बल्कि उनकी आत्मशक्ति प्रकृतिका साथ देती और उसे आकार देती है। वे अपने ही प्रकृति-कर्मके अध्यक्ष होते हैं, वह जीव नहीं जो प्रकृति-

में जन्मे हों बल्कि वह सिरजनहार आत्मा जो प्रकृतिसे जगद्रूपमें व्यक्त होनेवाला यह सारा विस्तार कराते हैं। वे प्रकृतिके साथ रहते और उसकी सारी क्रियाएं उससे कराते है, पर साथ ही वे उसके परे भी रहते है, जैसे प्रकृतिके सारे विश्वकर्मके ऊपर कोई अपने विश्वातीत प्रभुत्वमें विराज रहा हो। प्रकृतिके साथ उन्हें उलझानेवाली और प्रकृतिका प्रभुत्व उनके ऊपर स्थापित करनेवाली किसी वासना-कामनाके कारण वे किसी प्रकार प्रकृतिमें लिप्त या आसक्त नहीं और इसलिये प्रकृतिके कर्मोंसे बद्ध भी नही है; क्योंकि वे इन सब कर्मोंके अनंत परे और प्राक् है, कालचक्रके भूत, भविष्य और वर्तमान सभी आवर्तनोंमें एकरस है। कालकृत क्षरभाव उनकी अक्षर सत्तामें विकार नही उत्पन्न करते। सारे विश्वको व्यापने और धारण करनेवाला मौन आत्मा विश्वमें होनेवाले परिवर्तनोंसे प्रभावित नही होता; कारण विश्वके इन परिवर्त्तनोंको धारण करता हुआ भी वह इनमें भाग नही लेता। यह परात्पर परम विश्वातीत आत्मा इसलिये भी इनसे प्रभावित नही होता कि यह इनके आगे बढ़ता और सदा ही परे रहता है।

पर यह कर्म भी है "स्वां प्रकृतिम्" अपनी ही भागवत प्रकृतिका कर्म और भागवत प्रकृति भगवान्से कभी पृथक् नहीं हो सकती, इसलिये जो कुछ भी प्रकृति निर्मित करती है उसके अंदर भगवान् रहते ही हैं। यह संबंध ही भगवान्की सारी सत्ताका संपूर्ण सत्तत्त्व नहीं है, पर यह जितना कुछ है ऐसा नही है कि इसकी किसी प्रकार उपेक्षा की जा सके। भगवान् मानवशरीरमें वास करते है। जो उनकी इस सत्ताकी उपेक्षा करते हैं, जो

इस मानवरूपके आवरणके कारण उनकी अवमानना करते हैं वे प्रकृतिके दिखावोंसे भरमते और विमूढ़ होते हैं और इस कारण वे यह अनुभव नहीं कर सकते कि हमारे अंदर गुप्त रूपसे भगवान् निवास करते हैं चाहे उनका यह निवास करना मानुष तनमें रहते हुए भी अपने स्वरूपमें जागते हुए निवास करना हो जैसा कि अवतारमें होता है या मायासे समावृत हो। जो महात्मा हैं, अपने अहंभाव के अंदर कैद नहीं, जो अंतःस्थित भगवान्की ओर अपने-आपको सम्मुख किये हुए हैं, वे यह जानते हैं कि मनुष्यके अंदर जो गुप्त आत्मा है, जो यहां परिच्छिन्न मानव-प्रकृतिसे बद्ध प्रतीत होता है वह वही अनिर्वचनीय तेज है जिसे हम बाहर परम पुरुष परमेश्वर कहकर पूजते हैं। वे भगवान्के उस परम पदको जानते हैं जहां भगवान् सब भूतोंके स्वामी और प्रभु हैं और फिर भी प्रत्येक भूतमें वे यह देखते हैं कि वे ही भगवान् प्रत्येकके परम इष्टदेव और अंतःस्थित परमात्मा हैं। बाकी जो कुछ है वह विश्वमें प्रकृतिके नानात्वके प्राकटचके लिये अपने-आपको परिच्छिन्न करता है। वे यह भी देखते हैं कि यह उन्हीं भगवान्की प्रकृति है जो विश्वमें जो कुछ है बनी हुई है और इसलिये यहां जो कुछ है, अंदरकी असलियतमें वही एक भगवान् है, सब कुछ वासुदेव है, और इस तरह वे भगवान्को केवल विश्वके परे रहनेवाले परमेश्वरके रूपमें ही नहीं बल्कि इस जगत्में, एकमेव अद्वितीय रूपमें तथा प्रत्येक जीवके रूपमें पूजते हैं। इस तत्वको वे देखते हैं और इस तत्त्वमें रहते और कर्म करते हैं; उन्हींको वे सब पदार्थोंके परे स्थित परमतत्त्वके तथा जगत्में स्थित ईश्वरके रूपमें और जो कुछ है उसके अधीश्वरके

रूपमें पूजते, उन्हींमें रहते और उन्हींकी सेवा करते हैं, सेवा करते हैं यज्ञकर्मोंके द्वारा, ढूंढते हैं ज्ञानके द्वारा, सर्वत्र देखते हैं उन्हींको, उनके सिवा और किसी चीजको नही और अपने जीव-भाव तथा अपनी बाह्यांतर प्रकृति दोनों ही प्रकारसे अपनी संपूर्ण सत्ताको उन्हींकी ओर उन्नत करते हैं। इसीको वे विशाल, प्रशस्त और सिद्ध मार्ग जानते हैं; क्योंकि यही एकमेव परमतत्त्व-स्वरूप तथा विश्वस्थित और व्यष्टिस्थित परमेश्वरके संबंधमें संपूर्ण सत्यका मार्ग है।[1]

[1]अ. ९, श्लोक ४-११, १३-१५, ३४.

६

कर्म, भक्ति और ज्ञान

अतएव यही संपूर्ण सत्य, परमोच्च और विशालतम ज्ञान है। भगवान् विश्वातीत सनातन परब्रह्म हैं, वे अपनी देशकालातीत सत्तासे अपनी सत्ता और प्रकृति का यह सारा विश्वरूप आविर्भाव देश और कालके अंदर धारण करते हैं। वे परमात्मा हैं जो जगत्के रूपों और गतियोंके अंतरीय आत्मा हैं। वे पुरुषोत्तम हैं जिनका सब जीवात्मा और प्रकृति, सारा आत्मभाव और इस जगत्का या किसी भी जगत्का सारा भूतभाव आत्माधान और आत्मशक्ति-चालन है। वे सब भूतोंके अनिर्वचनीय परमेश्वर हैं, वे प्रकृतिमें व्यक्तीभूत अपनी ही शक्तिको अपने आत्मभावके वशमें रखे हुए जगत्के चक्र और उन चक्रोंमें प्राणियोंका प्राकृत विकास उद्घाटित करते रहते हैं। जीव, व्यष्टि पुरुष, प्रकृतिस्थ आत्मा, जो उन्हींकी सत्तासे सत् है, जो उन्हींके चित्प्रकाशसे चित्स्वरूप है, उन्हींके संकल्प और शक्तिसे जिसमें ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति है, उन्हींके दिव्य विश्वभोगसे जो जीवनमें आनंद अनुभव करता है, उन्हींसे इन भवचक्रोंमें आया है।

मनुष्यका जो अंतरात्मा है वह यहां भगवान्‌का ही आंशिक आत्मप्राकट्य है, जगत्‌में भगवान्‌की प्रकृतिके कर्मोंके लिये स्वतः परिच्छिन्न हुआ है, भगवान्‌की प्रकृति जीव बनी है, "प्रकृतिः जीवभूता"। आत्मतत्त्वतः व्यष्टिपुरुषका भगवान्‌के साथ अभेद है। भागवत प्रकृतिके कर्मोंमें वह भगवान्‌से अभिन्न है, तथापि व्यावहारिक भेद है और प्रकृतिस्थ भगवान् और विश्वप्रकृतिके परे स्थित भगवान्‌के साथ उसके बहुतसे गहरे संबंध है। प्रकृतिके अपर दृश्य प्रपंचोंमें यह व्यष्टि-जीव एक प्रकारके अज्ञान और अहंभावप्रयुक्त पार्थक्यके कारण एकमेव भगवान्‌से सर्वथा इतर देख पड़ता है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस पृथक्कृत चेतनाके अंदर रहता हुआ अपने आहंकारिक सुख और जगत्‌में अपने व्यष्टिगत जीवनकी तथा जगत्‌में रहनेवाले अन्य प्राणियोंके मन-बुद्धि-प्राणोंके साथ अपने बाह्य संबंधोंकी ही बातें सोचता, चाहता, करता और भोगता है। परंतु वास्तवमें उसकी सारी सत्ता, उसका सारा चिंतन, उसका चाहना, करना और भोगना भगवान्‌के विचार, संकल्प, कर्म और प्रकृतिभोगका ही एक प्रतिबिंबमात्र होता है—यह प्रतिबिंब अवश्य ही जबतक वह अज्ञानमें है, अहंभावप्रयुक्त और उलटा होता है। व्यष्टिपुरुषके मूलमें जो यह सत्तत्त्व है उसे पीछे फिरकर पुनः प्राप्त कर लेना ही उसकी मुक्तिका सीधा उपाय है, अज्ञानकी दासतासे निकलनेका यही उसके लिये सबसे चौडा और सबसे नजदीक दरवाजा है। है तो वह आत्मा ही, वह जीव जो बुद्धि और विचारशक्तिसे युक्त है, जिसमें संकल्प और कर्म करनेकी शक्ति है, जिसमें भावना, वेदना और जीवनका आनंद पानेकी कामना है, ये सब शक्तियां उसमें

है और इसलिये इन्ही सब शक्तियोंको भगवान्‌की ओर फेर देनेसे मनुष्यका अपने परम सत्यको पुन. प्राप्त होना पूर्णतया संभव हो सकता है। उसे परमात्मा और ब्रह्मके ज्ञानसे जानना होगा; उसे अपनी भक्ति-पूजा परम पुरुषको चढानी होगी; उसे अपने संकल्प और कर्म अखिल ब्रह्मांडके परम अधीश्वरके अधीन करने होंगे। इससे वह निम्नगा प्रकृतिसे भागवत प्रकृतिमें जाता है; वह अज्ञानके विचार, संकल्प और कर्म अपनी प्रकृतिसे निकाल फेंकता है और अपने भागवत स्वरूपके बोधसे, उस परमात्माके अंशके नाते, उसकी एक शक्ति और ज्योतिके नाते सोचता, संकल्प और कर्म करता है; भगवान्‌के समग्र आंतरिक आनंत्यको वह भोगता है, केवल इन बाह्य स्पर्शों, आवरणों और दिखावोंको ही नही। इस प्रकार भागवत भावसे रहता हुआ, इस प्रकार अपने संपूर्ण आत्मभाव और प्रकृतिको भगवान्‌की ओर लगाता हुआ वह परब्रह्म परतम सत्यके अंदर उठा लिया जाता है।

वासुदेवको सब कुछ जानना और उसी ज्ञानमें रहना ही असली रहस्यकी चीज है। मानव जीव उन्हें आत्मा जानता है, वह आत्मा जो अक्षर है, जिसके अंदर सब कुछ है और जो सबका अंतर्यामी है। वह निम्नगा प्रकृतिके उलझे और अस्त-व्यस्त हुए जंजालसे निकल आता और स्वत.सिद्ध आत्माकी सुस्थिर और अचला शांति और प्रकाशमें निवास करता है। वहां वह भगवान्‌के इस आत्माको अनुभव करता है जो आत्मा सब भूतोंमें स्थित है और समस्त चराचर जगत्‌की सारी प्रवृत्ति और कर्म तथा दृश्यको धारण करता है। विकारी जगत्‌के इस सनातन अविकारी आधारभूत आत्मामें स्थित होकर वहांसे वह उससे भी

महान् सनातन, विश्वातीत, परम सत्की ओर देखता है। वह उन्हें सब पदार्थोंमें निवास करनेवाले आत्मदेव, मानव हृदयके स्वामी, निगूढ़ ईश्वर जानता है और उस परदेको हटा देता है जो उसके प्राकृत जीवभाव और उसकी सत्ताके इन अतर्यामी आत्म-स्वरूप स्वामीके बीचमें है। वह अपने संकल्प, विचार और आचारको ज्ञानपूर्वक ईश्वरके संकल्प, विचार और आचारके साथ एक कर देता है, उसका चित्त अन्तःस्थित भगवान्के सदा अपने अंदर होनेकी भावनाके साथ एक प्रकारकी सतत अनुभूतिके द्वारा सुसंगत बना रहता है और वह सबके अंदर उन्हीको देखता और उन्हीकी पूजा करता है और समूचे मानव कर्मको भागवत प्रकृतिके परम अभिप्रायमें परिणत कर देता है। वह जानता है कि उसके अगल-बगल सारे जगत्के अदर जो कुछ भी है उसके मूल और सारस्वरूप वे ही है। जितने भी पदार्थ है उनके बाह्य रूपोंको वह ऐसे देखता है जैसे वे आवरण हो, इसके साथ ही वह उनके भीतरी अभिप्रायको भी देखता है, देखता है कि ये सब पदार्थ उसी एक अचिंत्य सत्तत्त्वके स्वत. प्रकट होनेके साधन और लक्षण है, इसी तरह बाह्य रूप और आतर अभि-प्राय, दोनोको ही एक साथ देखता हुआ वह सर्वत्र उसी एकत्व, उसी ब्रह्म, पुरुष, आत्मा, वासुदेव, उसी वस्तुतत्त्वको ढूढ़ता है जो ये सब प्राणी और पदार्थ बना है। इसलिये भी उसका सारा आंतरिक जीवन उस अनतके साथ समस्वर और सुसंगत हो जाता है जो अब, यह जो कुछ जीवन-रूपसे है या इसके अदर और अगल-बगल है, इस सबके रूपमे स्वतः प्रादुर्भूत है और इस तरह उसका समस्त बाह्य जीवन अखिल ब्रह्मांडके जीवनोद्देश्यका एक

समुचित नायक यंत्र बन जाता है। अपने आत्माके द्वारा वह उस परब्रह्मकी ओर ताकता है जो परब्रह्म ही यहां, वहां सर्वत्र एकमेवाद्वितीय सत् है। अपने अंतस्थ ईश्वरके द्वारा वह उन परम पुरुषकी ओर देखता है जो अपने परम रूपमें सब वासस्थानोंके परे हैं। विश्वमें व्यक्त हुए प्रभुके द्वारा वह उन परमकी ओर देखता है जो अपने सब व्यक्त भावोंके परे रहकर उनका नियमन करते हैं। इस प्रकार वह ज्ञानके असीम उद्घाटन और ऊर्ध्वदर्शन और अभीप्साके द्वारा आरोहण कर उस वस्तुको प्राप्त होता है जिसकी ओर उसने अपने-आपको अनन्य और सर्वभावसे फेर लिया है।

जीवका यह जो भगवान्‌की ओर सर्वभावेन फिरना है, यही मुख्यतया गीताके ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वयका आधार है। इस प्रकारसे भगवान्‌को सर्वभावेन जानना यह जानना है कि वे ही एक भगवान् आत्मामें हैं, व्यक्तीभूत सारे चराचर जगत्‌में हैं और समस्त व्यक्तके परे हैं—और यह सब एकीभावसे और एक साथ हैं। परंतु उन्हें इस प्रकार जानना भी पर्याप्त नहीं होता जबतक कि उसके साथ हृदय और अंतःकरण भगवान्‌की ओर प्रगाढ़ताके साथ ऊर्ध्वमुखी न हों, जबतक कि मनुष्यके अंदर वह ज्ञान एकमुखी और साथ ही सर्वग्राही प्रेम, भक्ति और अभीप्साको प्रज्वलित न कर दे। निश्चय ही वह ज्ञान जिसके संग अभीप्सा नहीं होती और जो आरुरुक्षासे अनुप्राणित नहीं होता कोई सच्चा ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसा ज्ञान केवल एक बौद्धिक रूपसे देखनेकी क्रिया और नीरस ज्ञान-प्रयासमात्र हो सकता है। भगवान्‌का आभास पा लेनेके बाद तो भगवान्-

की भक्ति, उन्हें ढूंढ़नेकी सच्ची लगन प्राप्त हो ही जाती है—वह लगन हो जाती है जो केवल उन भगवान्‌को ही नही जो अपने कैवल्यरूपमें है, बल्कि उन भगवान्‌को भी जो हम लोगोंके अंदर हैं और उन भगवान्‌को भी जो यह सब जो कुछ है उसके अंदर है, ढूढती फिरती है। बुद्धिसे जानना केवल समझना है और आरंभके लिये यह एक प्रभावशाली साधन हो सकता है,—अथवा नहीं भी हो सकता और न होगा यदि उस ज्ञानमें कोई दिली सच्चाई न हो, चित्तमें आंतरिक अनुभूतिकी कोई प्रवृत्ति न हो, जीवपर छायी हुई कोई शक्ति न हो, आत्माके अंदर कोई पुकार न हो; उसका अर्थ तो इतना ही होगा कि मस्तिष्कने बहिर्भावसे समझा है पर अदर जीवने कुछ देखा नही है। सच्चा *ज्ञान अंत.स्थ जीवभावसे जानना है,* और जब *अंतःस्थ* जीवको उस प्रकाशका स्पर्श होता है तब जिस चीजको उसने देखा है उसे गले लगानेके लिये वह उठ खडा होता है, उसे आयत्त करनेके लिये वह लालायित होता है, उसे अपने अंदर और अपने-आपको उसके अंदर रूपान्वित करनेके लिये साधन-संग्राममे उतरता है, उसने जो दर्शन किया है उसके तेजके साथ वह एक होनेका प्रयास करता है। इस अर्थमें ज्ञान अभेदभाव-को प्राप्त होनेके लिये जाग उठना है, और चूकि अंत.स्थ जीव चैतन्य और आनदके द्वारा, प्रेमके द्वारा, आत्मभावका जो कुछ आभास उसने पा लिया है उसकी प्राप्ति और उसके साथ एकत्वके द्वारा आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है, ज्ञानका अंदर जाग उठना आप ही इस सच्चे और एकमात्र पूर्ण साक्षात्कारकी एक ऐसी लगन पैदा कर देता है जो सब विघ्न-बाधाओंको कुचलकर आगे बढ़ती है।

इस तरह जो कुछ जाना जाता है, वह कोई बहिर्भूत विषय नहीं होता, बल्कि वह भागवत पुरुष, हम जो कुछ भी हैं उसके आत्मा और प्रभुका स्वानुभूत ज्ञान होता है। इसके अटल परिणामस्वरूप भगवान्‌के प्रति एक सर्वजित् आनंदमयी वृत्ति प्रवाहित होने लगती है और एक प्रगाढ़ और भावमय प्रेम और भक्तिकी धाराएं बहने लगती है और यही ज्ञानका आत्मा है। और यह भक्ति हृदयकी कोई एकांगी वृत्ति नही बल्कि जीवन-का सर्वांग समर्पण है। इसलिये यज्ञ भी यह है ही, क्योंकि सब कर्म ईश्वरार्पण करनेकी क्रिया इसमें होती है, अपनी सारी क्रिया-शील अंतर्बाह्य प्रकृति अपनी प्रत्येक मानसिक और प्रत्येक विषय-गत क्रियामें अपने भजनीय भगवान्‌को समर्पित की जाती है। हमारी सारी मानसिक क्रियाएं उन्हींके अंदर होती हैं और वे ढूंढ़ती हैं अपनी सारी शक्ति और प्रयासके मूल और गंतव्य स्थलके तौरपर उन्हींको, उन्हीं आत्मा और प्रभुको। हमारी सब बाह्य क्रियाएं जगत्‌मे उन्हींकी ओर गतिमान् होती और उन्हींको अपना लक्ष्य बनाती है, भगवत्सेवाकार्यका नवारंभ करती हैं उस जगत्‌मे जिसकी नियामक शक्ति हमारे वे अंत:स्थ भग-वान् हैं जिनके अंदर ही हम सब विश्व और उसके समस्त जीवों-के साथ सर्वभूतस्थित एकात्मा हैं। कारण, जगत् और आत्मा, प्रकृति और प्रकृतिस्थ पुरुष दोनों उसी एकके चैतन्यसे प्रकाश-मान हैं और हैं दोनों ही उन्हीं एक परम पुरुष पुरुषोत्तमके ही आंतर और बाह्य विग्रह। इस प्रकार एक आत्माके अंदर बुद्धि, हृदय और संकल्पक मनका समन्वय होता है और उसके साथ इस पूर्ण मिलनमें, इस सर्वांगीण भगवत्साक्षात्कारमे, इस भागवत

योगमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका समन्वय होता है।

परंतु किसी भी रूपमें इस स्थितिको प्राप्त होना अहंवद्ध प्रकृतिके लिये कठिन है। और इस स्थितिकी विजयशालिनी और सर्वांगीण और सुसंगत पूर्णताको प्राप्त करना तो, जब हम अंतिम बारके एकमेव निश्चयके साथ तथा सदाके लिये इस मार्ग-पर पैर रखते हैं तब भी, सुगम नही होता। मर्त्य मानव अज्ञानवश आवरणों और बाहरी दिखावोंका जो भरोसा किया करता है उससे मूढ बन जाता है; वह केवल बाह्य मानव शरीर, मानव अंतःकरण, मानव जीवनपद्धति ही देखता है और उन भग-वान्‌की, जो प्रत्येक प्राणीमें निवास करते है, कोई ऐसी झलक नही पाता जिससे वह इस अज्ञान और मोहसे मुक्त हो सके। उसके अपने अंदर जो भगवत्तत्त्व है उसीकी वह उपेक्षा, अवज्ञा करता है और दूसरोंके अंदर उसे नही देख पाता, और मनुष्यमें अवतार और विभूतिके रूपसे भगवान्‌के आविर्भूत होते हुए भी वह अंध ही बना रहता और छिपे हुए भगवान्‌की अवहेलना या तिरस्कार करता है—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।" और जब वह जीवित प्राणीके अंदर भगवान्‌की ऐसी उपेक्षा करता है तब उस बाह्य जगत्‌में तो वह उन्हें क्या देखेगा जिसे वह अपने पृथक्कर अहंकारकी कैदके कारण परिसीमित मन-बुद्धिके बंद झरोखोंसे देखा करता है। जगत्‌में ईश्वरको वह नही देखता; उन परमेश्वरको वह कुछ भी नही जानता जो इन सब विविध प्राणियों और पदार्थोंसे परिपूर्ण नानाविध लोकोंके स्वामी हैं और इन सब लोकोके सब भूतोंमें निवास करते हैं; उसकी अंधी आंखें उस प्रकाशको नहीं देख पाती जिससे संसारमें यह जो कुछ भी

है सब भगवद्भावकी ओर उन्नत होता है और पुरुष स्वयं अपनी अंतःस्थ भगवत्तामें जाग उठता और भगवदीय होता, भगवत्सदृश होता है। जिस चीजको वह अनायास ही देखता, और उसीपर लपककर उसमें आसक्त होता है, वह चीज है अहंभावका जीवन—सांत वस्तुओंका पीछा, उन्ही विषयोंकी प्राप्तिके लिये और मन-बुद्धि, शरीर तथा इंद्रियोंकी पार्थिव लालसाकी तृप्तिके लिये। जो लोग मनके इस बहिर्मुखी प्रवाहमें अपने-आपको बेतरह झोंक देते हैं वे निम्नगा प्रकृतिके हाथोंमें जा गिरते, उसीसे चिपके रहते और उसीको अपनी आधारभूमि बना लेते हैं। मनुष्यके अंदर जो राक्षसी प्रकृति है उसीके वे शिकार होते हैं। इस प्रकृतिके वशमें रहनेवाला मनुष्य हर चीजको अपने पृथक् प्राणमय अहं-कारकी अत्युग्र और अदम्य भोग-लालसापर न्योछावर कर देता है और उस राक्षसको ही अपने मन, बुद्धि, कर्म और भोगका तमोमय ईश्वर बना लेता है। अथवा वे आसुरी प्रकृतिकी अहं-मन्य स्वेच्छा, स्वतःसंतुष्ट विचार, स्वार्थांध कर्म, स्वतःसंतुष्ट और फिर सदा असंतुष्ट रहनेवाली बौद्धिकभावापन्न भोग-तृष्णाके द्वारा व्यर्थके चक्करमे आगे झोंक दिये जाते हैं। परंतु इस पृथक्कर अहंचेतनामे सतत बने रहना और इसीको अपने सारे कर्मोंका केंद्र बना लेना अपने सत्स्वरूप ज्ञानसे सर्वथा वंचित होना है। इससे आत्मा-के पथभ्रष्ट करणोंपर मोहका जो परदा पड़ता है वह एक ऐसा जादू है जो जीवनको एक निरर्थक चक्करसे बांध देता है। उसकी सारी आशा, कर्म, ज्ञान व्यर्थ देख पड़ते है जब कि उन्हें भगवदीय और सनातन नापसे नापा जाता है, क्योंकि इससे महद् आशाका द्वार बंद होता, मुक्तिदायक कर्म छूट जाता, प्रकाश देने-

वाला ज्ञान हवा हो जाता है। यह वह मिथ्याज्ञान है जो दृश्य जगत्को देखता है पर उस दृश्य जगत्के सत्तत्त्वको नहीं देख पाता, यह वह अंधी आशा है जो क्षणभंगुर पदार्थोंका पीछा करती पर सनातनको नही देख पाती, यह वह निष्फल कर्म है जिसका प्रत्येक लाभ उससे होनेवाली हानिसे कुछ नहीं रह जाता, सिसिफस (Sysiphus) की भाति अनत कालतक केवल परिश्रम करना ही हाथ लगता है।'[1]

जो लोग महात्मा है, जो अपने-आपको उस दैवी प्रकृतिके प्रकाश और उदारताकी ओर खोल देते हैं जिसे प्राप्त होना मनुष्य-की सामर्थ्यके अदर है, वे ही उस मार्गपर है जो मार्ग आरभमें बहुत ही सकरा, अंतमें अत्यंत विशाल होता हुआ मुक्ति और पूर्णताकी ओर ले जाता है। मनुष्यके अदर जो देवत्व है उसकी वृद्धि करना मनुष्यका समुचित कर्म है; उसके अदर यह जो निम्नगा आसुरी और राक्षसी प्रकृति है इसे निरतर दृढ़तापूर्वक दैवी प्रकृतिमें परिणत करना ही मानव जीवनका मर्म है जिसे दक्षतापूर्वक सुरक्षित रखा गया है। जैसे-जैसे यह वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे आवरण हटता जाता है और जीव कर्मके उत्तरोत्तर महान् अभिप्रायको तथा जीवनके वास्तविक तथ्यको समझने लगता है। आंख खुल जाती है उन भगवान्की ओर जो मनुष्यके अंदर है, उन भगवान्की ओर जो जगत्के अदर है; उस अनंत आत्माको, उस अविनाशीको जिससे सारे भूत उत्पन्न होते है और जो सब भूतोके अंदर रहता है और जिसके द्वारा

---

[1] अ. ९, ११–१२

और जिसके अंदर यह सब कुछ बना रहता है, वह अंतर्मुख होकर अपने अंदर देखता है और उसीको बाहरकी ओर जानने लगता है। अतः जब यह प्रत्यक्ष आभास और यह ज्ञान जीवको धर लेता है तब उसकी सारी जीवनाकांक्षा भगवान् और अनंतके प्रति परम प्रेम और अथाह भक्ति बन जाती है। मन तब केवल एक सनातन, परमात्मीय, चिरजीवी, विश्वव्यापक, सत्तत्वमें ही आसक्त होकर रहता है, उसके लिये किसी भी चीजका मूल्य उसीके नाते होता है और उसे आनंद आता है केवल उस एक सर्वानंदमय पुरुषमें ही। उसकी वाणीका सारा प्रयास और उसकी मन-बुद्धिका सारा चिंतन एक अखंड कीर्तन होता है उस विश्वव्यापक महत्ता, प्रकाश, सौंदर्य, शक्ति और सत्यका जो अपने तेज-प्रतापके साथ उस मानव आत्माके हृदयपर प्रकट हुआ है और यही उसकी उन एकमेव परम आत्मा और अनंत पुरुषकी उपासना होती है। अंतरात्माके अंदर व्यक्त होनेकी जो एक छटपटाहट दीर्घकालसे चली आयी है वह अब अपने-आपमें भगवान्‌को प्राप्त करने और प्रकृतिमें उन्हें अनुभव करनेकी एक आध्यात्मिक चेष्टा और अभीप्साका रूप धारण करती है। सारा जीवन उन भगवान् और इस मानव आत्माका निरंतर योग और एकीभाव बन जाता है। यही परिपूर्ण भक्तिकी रीति है; हमारे समस्त आधार और प्रकृतिको यह सनातन पुरुषोत्तममें लगे हुए हृदयसे होनेवाले यज्ञके द्वारा एक साथ ऊपर उठा ले जाती है।'

जो लोग ज्ञानपर ही अधिक जोर देकर चलते है, वे भी

'अ. ९, १३-१४

अंतरात्मा और प्रकृतिपर होनेवाले भगवदाभासकी निरंतर बढ़नेवाली, अपने अंदर लीन करनेवाली और अपने रास्तेपर चलानेवाली शक्तिके सहारे उसी जगह पहुंचते हैं। उनका यज्ञ है ज्ञानयज्ञ और ज्ञानके ही एक अनिर्वचनीय परम भावावेशसे वे पुरुषोत्तमकी भक्ति करने लगते हैं—"ज्ञानयज्ञेन यजन्तो मामुपासते।" यह वह ज्ञान है जो भक्तिसे भरा हुआ है, क्योंकि यह अपने करणोंमें पूर्ण है, अपने लक्ष्यमें पूर्ण है। यह परम तत्त्वको केवल एक तात्त्विक एकत्व अथवा अबुद्धिग्राह्य निरपेक्ष सत्यके तौरपर मानकर उसका पीछा करना नहीं है। यह परमको और विश्वरूप परमात्माको हृदयकी अनुभूतिके साथ ढूंढना और अधिकृत करना है; यह अनंतका पीछा करना है उनकी अनंततामें और अनंतको ही ढूंढ़ना है उन सब पदार्थोंमें जो सांत हैं; यह उन एकको उनके एकत्वमें और उन्हीं एकको उनके अनेकविध तत्त्वोंमें, उनकी असंख्य छवियों, शक्तियों और रूपोंमें, यहां, वहां, सर्वत्र, कालातीततामें और कालमें, गुणनमें, विभाजनमें, उनके एक ईश्वरभावके अनंत पहलुओंमें, असंख्य जीवोंमे, उनके उन करोड़ों विश्वरूपोंमें जो जगत् और उसके प्राणियोंके रूपमें हमारे सामने हैं,—"एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्"—देखना और आलिंगन करना है। यह ज्ञान अनायास ही एक भजन-पूजन, एक विशाल भावभक्ति, एक महान् आत्मदान, एक पूर्ण आत्मोत्सर्ग हो जाता है; कारण यह उस आत्माका ज्ञान है, उस आत्मस्वरूपका संस्पर्श है, उस परम और विश्वरूप विराट् पुरुषका आलिंगन है जो हमें, हम जो कुछ भी हैं, अपनी चीज बना लेता है और अपने सत्स्वरूपके अनंत आनंदकी निधियां हमारे ऊपर बरसाता

है जब कि हम उसके समीप पहुंचते हैं।[1]

कर्मका मार्ग भी आत्मनिवेदनरूपा उपासना और भक्तिमें परिणत हो जाता है; कारण यह हमारे चित्त और उसकी सारी वृत्तियों और व्यापारोंका एक श्रीपुरुषोत्तमके चरणोंमें पूर्ण समर्पण होता है। बाह्य वैदिक यज्ञविधि एक शक्तिशाली रूपक है, उससे जो लाभ होता है वह अल्प है पर है स्वर्गमुखी; वास्तविक यज्ञ तो वह आंतरिक होम है जिसमें समग्र भगवान् स्वयं ही यज्ञ-क्रिया, यज्ञ और यज्ञकी प्रत्येक वस्तु और घटना बनते हैं। इस आंतर यज्ञविधिकी सारी क्रियाएं और सामग्रियां हमारे अंदर रहने-वाली उन्हींकी शक्तिकी अपनी विधि और अपनी ही अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति हमारी अभीप्सासे अपनी प्रवृत्तियोंके मूलकी ओर ऊपर बढ़ती जाती है। अंतस्थ भगवान् ही यज्ञकी अग्नि और हवि बनते है, कारण यह अग्नि वही भगवन्मुखी इच्छा है और यह इच्छा ही हमारे अंदर भगवान्की अपनी सत्ता है। और हवि भी हमारी प्रकृति तथा पुरुष दोनो ही भावोंके स्वान्तस्थ भगवान्का ही रूप और शक्ति है; जो कुछ उनसे प्राप्त हुआ है वह उन्हींके सत्तत्त्व, उन्हींके परम सत्य और मूल स्वरूपकी सेवा और पूजामें भेंट चढाया जाता है। भगवत्स्वरूप मनीषी स्वयं ही पावन मंत्र बनता है; यह उन्हींकी सत्ताकी ज्योति है जो भगवन्मुखी विचारके रूपमे व्यक्त होती है और उस विचारके निगूढ़ आशयको मंडित किये रहनेवाले तेजके स्वानुभूत ज्ञानका उदय करनेवाले मंत्रमें तथा उसके उस छंदमे जो सनातन पुरुषके

---

[1] अ. ९, १५

छंदोंकी झनकार मनुष्यको सुनाता है, यह ज्योति ही काम करती है। ज्योतिर्मय भगवान् स्वयं ही वेद है और वेदोके प्रतिपाद्य भी। वे ही ज्ञान है और ज्ञेय भी। ऋक्, यजु, साम अर्थात् वे ज्योतिर्मय मंत्र जो बुद्धिको ज्ञानकी किरणोंसे प्रकाशमय करते है, वे शक्तिमय मंत्र जो कर्मका सही विधान करते है, वे शांति-मय और सामंजस्यमय मंत्र जो आत्माकी भगवदीय इच्छाका उद्गान करते है, स्वयं ही ब्रह्म है, अधीश्वर है, भगवदीय चैतन्य-का मंत्र ज्ञानोदय करानेवाला अपना प्रकाश ले आता है, भगव-दीय शक्तिका मंत्र कार्यसिद्धि करानेवाला अपना संकल्प ले आता है, भगवदीय आनंदका मंत्र आत्मसत्ताके आत्मानंदकी समत्वसिद्ध पूर्णता ले आता है। सब मंत्र—शब्द और अर्थ—महामंत्र अक्षर ब्रह्म ॐ का ही पुष्पित रूप है। ॐ जो इंद्रियग्राह्य विषयोंके रूपोंमे व्यक्त है, जो जगदुत्पादक आत्मगर्भाधानकी उस चिन्मयी लीलाके रूपमें व्यक्त है जिसके रूप और विषय प्रतीक है, जो अनंतकी आत्मनिहित परम चिन्मयी शक्तिमे व्यक्त है, वह ॐ पद और अर्थ, रूप और नामका परम मूल, बीज और गर्भाशय है—वह स्वयं ही, अपने पूर्ण रूपमे, इंद्रियातीत परम भाव है, मूलभूत एकत्व है, वह कालातीत रहस्य है जो परम पुरुषमे संपूर्ण व्यक्तके ऊर्ध्वमे स्थित और स्वतःसिद्ध है।[1] अतः यह यज्ञ एक

---

[1]अ ऊ म्—अ स्थूल और बाह्य जगत्का आत्मा 'विराट्' है, ऊ सूक्ष्म और आंतर जगत्का आत्मा 'तैजस' है, म् गुप्त परम चैतन्य सर्वशक्तिमत्ताका आत्मा 'प्राज्ञ' है, ॐ निरपेक्ष, 'तुरीय' है—माण्डूक्य उपनिषत्।

साथ ही कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों है।[1]

जो जीव इस प्रकार जानता, भक्ति करता और अपने सारे कर्म अपनी सारी सत्ताकी महती शरणागतिके भावसे सनातन पुरुषको अर्पण करता है उसके लिये ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है। वह ईश्वरको इस जगत्का वह पिता जानता है जो अपने बच्चोंको पालता, पोसता और उनपर अपनी दृष्टि रखता है। वह ईश्वरको वह भगवती माता जानता है जो हमें अपनी गोदमें उठाये रहती है, हम लोगोंपर अपने प्रेमके माधुर्य-की वर्षा करती और इस विश्वको अपने सौंदर्यके रूपोंसे परि-पूर्ण कर देती है। वह ईश्वरको वह आदिस्रष्टा जानता है जो उस सबका उत्पादक है, जिससे देश, काल और संबंधके अंदर उत्पत्ति और सृष्टि होती है। वह ईश्वरको समष्टिजगत् और व्यष्टिमात्रके भाग्यका स्वामी और विधाता जानता है। जिस मनुष्यने अपने-आपको भगवान्को समर्पित कर दिया है उसे जगत्, दैव और अनिश्चित् घटना-चक्र डरा नही सकता और न इसका दुःख और दुराचार उसे व्याकुल ही कर सकता है। जिस पुरुषकी आंखें है उसके लिये ईश्वर मार्ग है और ईश्वर ही उसकी यात्राका गंतव्य स्थान है, यह वह मार्ग है जिसमें कोई अपनेको खोता नहीं और यह वह गंतव्य स्थान है जिसके समीप वह ईश्वरके ही दिखाये रास्तेसे प्रतिक्षण निश्चय ही जा रहा है। वह ईश्वरको अपनी और सारी सत्ताका स्वामी, अपनी प्रकृति-का धारणकर्त्ता, प्रकृतिस्थ आत्माका पति, उसका प्रेमी और पोषक,

---

[1] अ. ९, १६–१७.

अपने सब विचारों और कर्मोंका अंतस्साक्षी जानता है। ईश्वर ही उसका घर और देश है, उसकी सब वासना-कामनाओंका आश्रयस्थान है, सब प्राणियोंका अति समीपस्थ तथा मंगलकारी ज्ञानी सुहृद् है। दृश्य जगत्के सारे रूपोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसकी दृष्टि और अनुभूतिमें वही एकमेव ईश्वर है जो अपने कालगत आत्माविर्भावको उसकी सतत पुनरावर्तन-पद्धतिसे बाहर ले आता, बना रखता और फिर अपने अंदर खींच लेता है। जो कुछ भी संसारमें उत्पन्न होता और नष्ट होता दीखता है उसका अविनश्वर बीज और मूल वही है और वही उस सबके अव्यक्त भावका चिरंतन विश्रांतिस्थान है। वही है जो सूर्य और अग्निकी उष्णतामें दाहक सत्ता है; वही है जो वर्षण और अवर्षण है; वही यह सारी भौतिक प्रकृति और उसका समस्त व्यापार है। मृत्यु उसका नकाब है और अमरत्व उसका आत्मप्रकाश। वह सब जिसे हम लोग "है" कहते है, वही है और वह सब जिसे अभी लोग "नही है" कहते है वह भी अनंतके अंदर छिपा हुआ है और उस अकथकी रहस्यमयी सत्ताका एक भाग है।[1]

यह जो उत्तम परम पद है जो ही सब कुछ है, इसके समीप पहुंचनेका एकमात्र साधन सर्वोत्तम ज्ञान और भक्ति, एकमात्र मार्ग उसके प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग और शरणागति है। अन्य धर्म, अन्य भजन-पूजन, अन्य ज्ञान, अन्य साधन भी अवश्य ही अपने-अपने फल देनेवाले है, पर वे फल अल्पकालीन होते है और केवल दैवी संकेतों और रूपोंके भोग देकर ही समाप्त हो जाते है। हमारे लिये, हमारी मनोभूमिकी तोलके अनुसार, बाह्य और आतंर

[1]अ. ९, १७–१९

ज्ञान, बाह्य और आंतर साधन मुझे कहते हैं। बाह्य धर्म बाह्य देवताका पूजन और बाह्य सुखका साधन है; इससे साधक अपने पाप धोकर शुद्ध होते और शास्त्रोंके बाह्य विधानका पूर्ण पालन करनेके लिये प्रवृत्ति-प्रधान नैतिक सदाचारिताको प्राप्त होते हैं; वे बाह्य योगके विधिवद्ध प्रयोग करते हैं। परंतु उनका लक्ष्य इस पार्थिव जीवनके नश्वर सुख-दुःखोंके पश्चात् स्वर्गके भोग प्राप्त करना होता है, वे वह महान् सुख चाहते हैं जो इहलोक नहीं दे सकता, पर फिर भी वह सुख इस संकुचित और दुःखप्रधान जगत्से एक विशालतर लोकका सुख होनेपर भी है वैयक्तिक और लौकिक ही। और जो कुछ वे प्राप्त करना चाहते हैं, उसे श्रद्धा और विधिपूर्वक प्रयत्नसे प्राप्त करते हैं। जड़ जीवन और पार्थिव कर्म ही हमारे वैयक्तिक जीवनका सारा क्षेत्र नहीं है, न ही यह ब्रह्माण्डका एकमात्र जीवन-प्रकार है। अन्य लोक भी हैं—स्वर्गलोकं विशालम्—और उनमें यहांकी अपेक्षा अधिक आनंद है। इसलिये प्राचीन समयके श्रौती वेदत्रयीका वाह्यार्थ सीखते, पाप-क्षालन कर पवित्र होते, देवताओंके दर्शन-स्पर्शनकी सुधाका पान करते और यज्ञ-यागादि तथा पुण्य कर्मोंद्वारा स्वर्गके भोग पानेका प्रयत्न करते थे। जगत्के परे कोई परम वस्तु है इस संबंधमें यह जो दृढ विश्वास है और, इससे भी अधिक, दिव्य लोकको प्राप्त होनेका यह जो प्रयास है इसने जीवको अपने मार्गक्रमणमें वह बल प्राप्त होता है जिससे स्वर्गके उन सुखोंको वह प्राप्त कर ले जिनपर उसकी श्रद्धा और प्रयास केंद्रीभूत हुए हों। परंतु यहांसे जीवको फिरसे मर्त्यलोकमें आना पड़ता है, क्योंकि इस लोकके जीवनके वास्तविक उद्देश्यका उसे कोई पता

नहीं चला, उसकी कोई उपलब्धि नही हुई। इसी लोकमें, अन्यत्र कही नही, परम पुरुष परमेश्वरको जानना होता है, जीवको सदोष भौतिक मानवप्रकृतिमेंसे उसकी दैवी प्रकृतिका विकास कराना होता है और ईश्वर, मनुष्य और जगत्‌के साथ एकत्वके द्वारा जीवनका समग्र विशाल सत्य ढूढ निकालना, उस सत्यमे जीना और उससे जीवनको प्रत्यक्ष रूपसे आश्चर्यजनक बनाना होता है। इसीसे जनन-मरणका लंबा चक्कर पूरा होता है और परम फल पानेका अधिकार प्राप्त होता है। मानवजन्मसे जीवको मिलनेवाला यही शुभ अवसर है और जबतक इसका प्रयोजन पूर्ण नही होता तबतक जन्म-मरणका चक्कर बंद नही होता। ईश्वरभक्त इस विश्वब्रह्माण्डमें मानवजन्मके इस परम प्रयोजनकी ओर अनन्य प्रेम और भक्तिके द्वारा सतत आगे बढ़ता रहता है। इस प्रेम और भक्तिसे वह परम पुरुष परमेश्वर और जगदात्मा जगदीश्वरको अपने जीवनका लक्ष्य बना लेता है—अपनी अहंताकी ऐहिक या पारलौकिक भोगोंकी तृप्तिको नहीं। उसके सारे चिंतन और दर्शनका भी वही एक उद्देश्य हो जाता है। देखना केवल एक भगवान्‌को, प्रतिक्षण उन्हीके साथ एकत्वमें रहना, सब प्राणियोमे उन्हीसे प्रेम करना और सब पदार्थोमें उन्हीका आनंद लेना—यही उसके आध्यात्मिक जीवनकी संपूर्ण स्थिति होती है। उसका भगवद्दर्शन उसे जीवनसे अलग नही करता, न जीवनकी पूर्णताका कोई भाग उससे छूटता है; कारण भगवान् स्वयं ही उसका सर्वविध कल्याण करते और उसका अंतर्बाह्य सारा योग और क्षेम वहन करते हैं—**योगक्षेमं वहाम्यहम्।** स्वर्ग-सुख और ऐहिक सुख उसकी सम्पदाकी केवल एक अल्प-सी

छाया है; क्योंकि ज्यों-ज्यों वह भगवद्रूपानुरूप होता जाता है त्यों-त्यों भगवान् भी अपनी अनंत सत्ताकी सारी ज्योति, शक्ति और आनंदके साथ उसके ऊपर प्रवाहित होने लगते हैं।'

साधारण लोक-धर्म समग्र भगवान्से इतर अंशदेवताओंका यजन है। गीता प्राचीन वैदिक धर्मके ही तत्कालीन विकसित बहिरंगसे प्रत्यक्ष उदाहरण लेती है; इस बाह्य पूजनको गीताने अन्य देवताओंका या वसुरुद्रादित्यरूप पितरोंका अथवा भौतिक शक्तियों और भूत-प्रेतोंका पूजन कहकर बखाना है। मनुष्य साधारणतः अपना जीवन और कर्म भागवती सत्ताकी अपनी समझ या दृष्टिमें जंचनेवाली अंश-शक्तियों और अंशस्वरूपोंको, विशेषतः ऐसी शक्तियों और स्वरूपोंको अर्पित करते हैं जो उनके निकट प्रकृति और मनुष्यके अंदरकी मुख्य-मुख्य चीजोंके प्रतिरूपक होते हैं अथवा जो उनके सामने उनकी अपनी मानवता ही अतिदैव रूपमें प्रतिभासित करते हैं। यदि मनुष्य इस प्रकारका भजन-पूजन श्रद्धाके साथ करते हैं तो उनकी श्रद्धा अन्यथा नहीं होती; कारण भक्त भगवान्के जिस किसी भी प्रतीक, रूप या भावमें उन्हें भजता है, "यां यां तनुं श्रद्धया अर्चति" जैसा कि अन्यत्र कहा है, भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और जैसी उसकी श्रद्धा होती है वैसे ही बनकर उससे मिलते हैं। सब सच्चे धार्मिक विश्वास और साधन यथार्थमें एकमेव परमेश्वर और जगदीश्वर-की खोज हैं; क्योंकि भगवान् ही मनुष्यके सारे यज्ञों और तपों-के एकमात्र स्वामी हैं और उसके सारे यत्न और अभीप्साके अनंत

'अ. ९. २०-२२

भोक्ता हैं। पूजा-अर्चाका प्रकार चाहे कितना ही छोटा या नीचा हो, परमेश्वरकी कल्पना चाहे कितनी ही मर्यादित हो, आत्मोत्सर्गका भाव, श्रद्धा-विश्वास, अपने ही अहंकारकी पूजा और जड़ प्रकृतिकी परिच्छिन्नताके परे पहुंचनेका प्रयास चाहे कितना ही संकुचित हो, उससे मनुष्यके आत्मा और सर्वात्माके बीच संबंधका कोई-न-कोई धागा बन ही जाता है और कुछ-न-कुछ मिलता ही है। तथापि यह मिलना, पूजासे मिलनेवाला यह फल ज्ञान, श्रद्धा और कर्मके अनुसार ही होता है, इनकी मर्यादाओंका वह अतिक्रम नहीं कर सकता, और इसलिये उस महत्तर परमेश्वर-ज्ञानकी दृष्टिसे, जिनके द्वारा ही आत्मसत्ता और भूत-भावके असली स्वरूपका पता चलता है, यह निम्न कोटिका आत्मोत्सर्ग आत्मोत्सर्गके सच्चे और परम विधानके अनुसार नहीं होता। ऐसी पूजा परम पुरुष परमेश्वरके समग्र स्वरूप और उनके आत्माविर्भावके तत्त्वोंके ज्ञानपर प्रतिष्ठित नहीं होती, बल्कि बाह्य और आंशिक रूपोंमें ही इसकी आसक्ति होती है—**न माम् अभिजानन्ति तत्त्वेन।** अतः इसके द्वारा होनेवाला आत्मदान भी अपने लक्ष्यमे मर्यादित, हेतुमें अहभावयुक्त, कर्म और दान-क्रियामे आशिक और अयथार्थ होता है—**यजन्ति अविधिपूर्वकम्।** भगवान्को समग्र रूपमें देखनेसे समग्र चैतन्ययुक्त आत्मसमर्पण बनता है; बाकी जो कुछ है वह उन चीजोको प्राप्त होता है जो चीजें अपूर्ण और आशिक हैं और उसे फिर उन चीजोंमे उप-राम होकर महत्तर आत्मानुसंधान और विशालतर परमात्मानुभवसे अपने-आपको विशाल बनानेके लिये लौट आना पडता है। परंतु परम पुरुष और विश्वात्मपुरुषको ही केवल और सर्वथा प्राप्त

करनेका यत्न करना उस समग्र ज्ञान और सुफलको प्राप्त होना है जिसे अन्य मार्ग प्राप्त कराते है जब कि साधक किसी एक पहलूसे परिच्छिन्न हुआ नहीं रहता यद्यपि सब पहलुओंमें उन्हीं एक भगवान्‌की ही सत्ताको अनुभव करता है। इस प्रकारका यत्न पुरुषोत्तमकी ओर आगे बढ़ता हुआ सभी भगवदीय रूपोंका समालिंगन करता है।[१]

यह पूर्ण आत्मसमर्पण,- यह अनन्य शरणागति ही वह भक्ति है जिसे गीताने अपने समन्वयका मुकुट बनाया है। सारा कर्म और साधन-प्रयास इस भक्तिके द्वारा परम पुरुष और विश्वात्म-पुरुष जगदीश्वरके प्रति समर्पणमें परिणत होता है। भगवान् कहते है, "जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ भोगते हो, जो कुछ होमते हो, जो कुछ दान करते हो, जो कुछ मनसा कर्मणा तप करते हो, उसे मुझे अर्पण करो।" यहां छोटीसे छोटी चीज, जीवनकी सामान्यसे सामान्य घटना, हम जो कुछ है या हमारे पास जो कुछ है उसमेंसे किंचित् भी जो दान किया हो वह दान, छोटेसे छोटा काम भगवदीय संबंध धारण करता और भगवान्‌के ग्रहण करने योग्य समर्पण होता है और भगवान् उसे अपने भक्तकी जीवसत्ता और जीवनको अधिकृत करनेका साधन बना लेते है। तब कामकृत और अहंकारकृत भेद मिट जाते है। अपने कर्मका फल अच्छा ही हो इस तरहकी कोई विकलता मनको नहीं होती, असुखद परिणामका कोई तिरस्कार नहीं होता, बल्कि सारा कर्म और फल उन परमेश्वरको अर्पित कर दिया जाता है जिनके कि जगत्‌के सारे कर्म और फल सदासे

[१] अ. ९, २३-२५

है ही। इस तरह कर्मके करनेवाले भक्तको कर्मका कोई बंधन नहीं होता। कारण अनन्य भावसे आत्मसमर्पण करनेसे सारी अहंभाव-प्रयुक्त कामना हृदयसे निकल जाती है और भगवान् और व्यष्टिजीवके बीच, जीवके पृथक् जीवनके आंतरिक संन्यासके द्वारा पूर्ण एकत्व सिद्ध होता है। संपूर्ण चित्त, संपूर्ण कर्म, सपूर्ण फल भगवान्के अपने होते है, इनका सारा व्यापार दिव्य रूपसे विशुद्ध और प्रबुद्ध प्रकृतिसे होता है, ये परिच्छिन्न व्यष्टिभूत अहंकारकी कोई चीज फिर नही रह जाते। परिच्छिन्न प्रकृति इस प्रकारसे समर्पित होनेपर अनंतका एक मुक्त द्वार बन जाती है; जीव अपनी आध्यात्मिक सत्तामें, अज्ञान और बंधसे ऊपर निकलकर सनातन पुरुषके साथ अपने एकत्वमें लौट आता है। सनातन-पुरुष भगवान्का सब भूतोंमें अधिवास है; सबमें वे सम हैं और सब प्राणियोंके एकसे मित्र, पिता, माता, विधाता, प्रेमी और भर्त्ता है। वे किसीके शत्रु नहीं, किसीके पक्षपाती प्रेमी नही; किसी-को उन्होंने निकाल बाहर नही किया है, किसीको सदाके लिये नीच करार नही दिया है, किसीको उन्होने अपनी स्वैर स्वेच्छा-चारितासे भाग्यवान् नहीं बनाया है, सब अज्ञानमें अपने-अपने चक्कर काटकर अंतमें उन्हींके पास आते है। पर भगवान्का यह निवास मनुष्यमें और मनुष्यका भगवान्में इस अनन्य भक्ति-द्वारा ही स्वानुभूत होता और यह एकत्व सर्वांगमें तथा पूर्णरूपेण सिद्ध होता है। परमका प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण, ये ही दो चीजें है इस भगवदीय एकत्वका सीधा और क्षिप्र मार्ग।[1]

---

[1]अ. ९, २६-२९

हम सबके अंदर समरूपसे जो भागवती सत्ता है उसकी ओर कोई प्राथमिक माग नही है यदि एक बार इस प्रकारसे श्रद्धा और हृदयकी सच्चाईके साथ तथा मूलत. पूर्णताके साथ संपूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया जाय। सब कोई इस द्वारपर खड़े हो सकते है, सब इस मंदिरके अंदर प्रवेश कर सकते है, सर्वप्रेमीके इस प्रासादमे हमारे सारे सांसारिक भेद हवा हो जाते है। यहां पुण्यात्माका न कोई खास आदर है, न पापात्माका तिरस्कार; पवित्रात्मा और शास्त्रविधिका ठीक-ठीक पालन करनेवाला सदाचारी ब्राह्मण और पाप और दु:खके गर्भसे उत्पन्न तथा मनुष्यो-द्वारा तिरस्कृत-बहिष्कृत चाण्डाल दोनो ही एक साथ इस रास्ते-पर चल सकते है और समान रूपसे परा मुक्ति और सनातनके अंदर परम निवासका मुक्त द्वार पा सकते है। पुरुष और स्त्री दोनोका ही भगवान्के सामने समान अधिकार है; कारण भागवत आत्मा मनुष्योको देख-देखकर या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा या मर्यादाको सोच-सोचकर उन्हे वैसा आदर नही देता; सब बिना किसी मध्यवर्त्ती या बाधक शर्तके सीधे उसके पास जा सकते है। भगवान् कहते है कि, "यदि कोई महान् दुराचारी भी हो और वह अनन्य और संपूर्ण प्रेमके साथ मेरी ओर देखे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, उसकी प्रवृत्तिशील संकल्प-शक्ति स्थिरभावसे और पूर्णरूपेण ठीक रास्तेपर आ गयी है। वह जल्द धर्मात्मा बन जाता और शाश्वती शांति लाभ करता है।" अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण करनेवाला मन आत्माके सब द्वार पूरे खोल देता है और आत्मसमर्पणके जवाबमें मनुष्यके अंदर भगवान्का अवतरण और आत्मदान ले आता है और इससे निम्नगा

प्रकृतिके परा आत्म-प्रकृतिमे अति शीघ्र रूपांतर-साधनके द्वारा हमारे अदर जो-जो कुछ है वह भागवती सत्ताके विधानके अनुरूप और तद्रूप हो जाता है। आत्मसमर्पणका संकल्प अपनी शक्तिसे ईश्वर और मनुष्यके बीचके परदेको हटा देता है; प्रत्येक भूलको मिटा देता और प्रत्येक विघ्नको नष्ट कर डालता है। जो लोग अपनी मानवी शक्तिके भरोसे ज्ञान-साधन या पुण्यकर्म अथवा कठोर तपके द्वारा उस महत्पदको लाभ करनेकी इच्छा करते है वे बड़े कष्टसे अपने रास्तेपर आगे बढ पाते है; परंतु जीव जब अपने अहकार और कर्मोको भगवान्‌को समर्पित कर देता है तब भगवान् स्वय चले आते और हमारा बोझ उठा लेते है। अज्ञानीको वे दिव्य ज्ञानका आलोक, दुर्बलको दिव्य संकल्पका बल, पापात्माको दिव्य पवित्रताकी मुक्तिदायिनी स्थिति, दु.खीको अनंत आत्मसुख और आनंद ला देते है। उनकी दुर्बलता और उनके मानवी बलका लड़खड़ाना उनकी इस कृपामे कोई भेद करनेका कारण नही होता। "यही मेरी प्रतिज्ञा है," अर्जुनसे भगवान् स्वयं कहते है कि, "जो कोई मेरी भक्ति करता है उसका नाश नही होता।" पहलेका प्रयास और तैयारी, जैसे ब्राह्मणकी शुचिता और पवित्रता, कर्म और ज्ञानमें श्रेष्ठ राजर्षिका प्रबुद्ध बल इत्यादिका इसीलिये महत्त्व है कि इनसे प्राकृत मानवजीवके लिये यह विशाल दर्शन पाना और आत्मसमर्पण करना सरल होता है; परंतु इस प्रकारकी तैयारीके बिना भी जो कोई मनुष्य प्रेमी भगवान्‌की शरण लेते है वे चाहे वैश्य हों जो किसी समय धनोपार्जन तथा उत्पादन-श्रमके तंग दायरेके अंदर फंसे रहा करते थे या शूद्र हों जो सहस्रों कठोर प्रतिबंधोंमें आबद्ध रहते

थे या स्त्री-जाति हों जिसके आत्मविस्तारके चतुर्दिक् समाजने एक संकुचित वर्त्तुल खीच रखा है और इस कारण जिसकी उन्नति-का मार्ग बराबर रुद्ध और प्रतिहत रहा है, ये ही क्यों बल्कि वे पाप-योनि भी जिनके ऊपर उनके पूर्वकर्मने खराबसे खराब जन्म लादा है, जो जातिबहिष्कृत है, अछूत है, परिया-चाण्डाल है वे भी अपने सामने भगवान्के पट खुले हुए पाते है। आध्यात्मिक जीवनमें वे सब बाह्य भेद जिन्हे मनुष्य इस कदर मानते हैं, क्योंकि उनका ताप बहिर्मुख मनके लिये इतना दुःसह होता है, भागवत ज्योतिकी समता और पक्षपातरहित शक्तिकी सर्व-शक्तिमत्ताके सामने बिलकुल हवा हो जाते है।[1]

यह पार्थिव जगत् जो द्वंद्वमय है और उपस्थित घड़ी और क्षणके तात्कालिक क्षणिक संबंधोसे बंधा हुआ है, मनुष्यके लिये तबतक संग्राम, दुःख और शोकका ही स्थान है जबतक कि वह इन सब चीजोमे अटका हुआ यहां रहता है और इन्हींके द्वारा उसपर लादे जानेवाले विधानको अपने जीवनका विधान मानता है। इससे मुक्त होनेका मार्ग बाह्यसे हटकर अंदरकी ओर मुड़ना है, मनको अपने बोझके नीचे दबानेवाले और प्राण और शरीर-की क्यारियोमे उसे कैद करनेवाले भौतिक जीवनने बाहरका यह जो दिखावा खड़ा किया है इससे हटकर उस भागवत सत्यकी ओर चलना है जो भागवत सत्तत्त्व आत्माकी मुक्त स्थितिमेसे होकर अपने-आपको व्यक्त करनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। संसारका प्रेम, यह आवरण भगवान्के, सत्यके प्रेममे अवश्य रूपातरित होना चाहिये।

---

[1]अध्याय ९, ३०-३२

जब इस गुप्त और अंतःस्थित ईश्वरका पता लगता और उसका समालिंगन किया जाता है तब हमारी सारी आत्मसत्ता और सारा जीवन ऊपर उठ जाता और एक विलक्षण रूपांतर साधित होता है। जो निम्नगा प्रकृति अपने बाह्य कर्मों और दिखावोंमें निमग्न रहती है उसकी अज्ञानमयतामें फसे रहनेके स्थानमे वह आख खुल जायगी जो सर्वत्र ईश्वरको देखने लगेगी, सर्वत्र आत्माकी एकता और सार्वत्रिकताको अनुभव करने लगेगी। संसारका दुःख-दर्द सर्वानंदके आनंदमे अपने-आपको खो देगा; हमारा दौर्बल्य, प्रमाद और पाप सर्वग्राही और सर्व-रूपांतरकारी शक्तिमे, सनातनकी सत्यता और शुचितामें परिवर्तित हो जायगा। भागवत चैतन्यके साथ अपने अंतःकरणको एक करना, अपनी सपूर्ण भावमय प्रकृतिको सर्वत्र भगवान्के प्रति प्रेमरूप बना देना, अपने सब कर्मोको त्रिभुवननाथके प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना और अपनी सारी उपासना और अभीप्साको उनकी भक्ति तथा आत्मसमर्पण बना देना, संपूर्ण आत्मभावको संपूर्ण अभेदभावके साथ भगवान्की ओर लगा देना—यही एक रास्ता है जिससे मनुष्य इस सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर भागवत जीवनको प्राप्त हो सकता है। भागवत प्रेम और भक्तिके संबंधमें गीताकी यही शिक्षा है, इस प्रेम और भक्तिमें ज्ञान, कर्म और हृदयकी चाह सब एक परम एकत्वमे एक हो जाते है, उनकी सारी विभिन्नताएं घुलमिल जाती हैं, सब तंतु एक पटके ताने-बाने बन जाते है, एक महान एकीकरण होता है, एक विशाल अभेदभाव विस्तृत होता है।[1]

---

[1]अ. ९, ३३–३४

७

गीताका महावाक्य

अब हम गीतातर्गत योगके उस अंतरतम सारतत्त्वमें आ गये हैं जो गीतोपदेशका समस्त जीवन-श्वसन-मूल केंद्रविंदु है। अब हम बिलकुल स्पष्ट रूपसे यह देख सकते हैं कि परिच्छिन्न मानव जीव जब अहंकार और निम्नगा प्रकृतिसे हटकर स्थिर, शांत और अविकार्य अक्षर आत्मामें आ जाता है तब उसका आरोहण केवल एक प्रथम सोपान, एक प्राथमिक परिवर्तनमात्र होता है। और अब हम यह भी देख सकते है कि गीतामें आरंभसे ही ईश्वरका, मानव-रूपमें परमेश्वरका क्यों इतना आग्रह किया गया है—उन परमेश्वर-का जो "अहं, माम्" आदि पदोंसे अपने-आपको सूचित करते हैं और ऐसा मालूम होता है कि ये शब्द किसी महान् निगूढ और सर्वत्रावस्थित उन परमात्माका संकेत करते है जो सब लोकोंके महेश्वर और मानवजीवके नाथ है और जो उस अक्षर आत्म-सत्तासे भी महान् है जो अक्षर आत्मसत्ता सदा शांत और अचल रहती और प्राकृत विश्वके अंतर्बाह्य दृश्योंसे निरंतर अलिप्त बनी रहती है।

सारा योग भगवान्की खोज है, सनातन पुरुषके साथ मिलनकी ओर प्रस्थान है। भगवान् और सनातनके संबंधमें हमारी भावना जिस अंशतक पूर्ण होगी उसी अंशतक हमारा खोजका मार्ग तथा हमारा मिलन प्रगाढ और पूर्ण होगा और हमारा साक्षात्कार समग्र। मनुष्य जो मानवजीव है, अपनी परिच्छिन्न मन-बुद्धिके रास्तेसे अपरिच्छिन्न अनंतकी ओर चलता है और इसलिये उसे इसी परिच्छिन्नका कोई समीप द्वार उस अनंतकी ओर खोलना पड़ता है। वह कोई ऐसी भावना ढूंढ़ता है जिसे उसकी बुद्धि पकड सके, अपनी प्रकृतिकी किसी ऐसी शक्तिको चुन लेता है जो अपने स्वोन्नतिसाधक बलसे उस अनंत सत्यतक पहुंच जाय और उसे छू ले जो स्वयं उसकी बुद्धिकी ग्रहणशक्तिके परे है। उस अनंत सत्यके तो असंख्य रूप, असंख्य वाचक शब्द और असंख्य आत्म-संकेत है। इन्हींमेंसे कोई एक रूप देखनेका वह प्रयास करता है जिसमे उसीकी भक्ति करके प्रत्यक्ष अनुभूतिके द्वारा वह उस अप्रमेय सत्यको पा ले जिसका कि यह एक प्रतीक है। यह द्वार चाहे कितना ही तंग हो, यह यदि उसे आकर्षित करनेवाली विशालताको प्राप्त होनेकी कुछ भी आशा दिलाता है, यदि उसकी आत्माको पुकारनेवाले 'तत्' की अथाह गभीरता और अगम्य उच्चताके रास्तेपर यह उसे ला खड़ा कर देता है तो इतनेसे उसे संतोष हो जाता है। और जैसे वह उसकी ओर आगे बढता है, वैसे वह उसे ग्रहण कर लेता है—**ये यथा मां प्रपद्यन्ते।**

दार्शनिक बुद्धि तात्त्विक ज्ञानके द्वारा सनातनको प्राप्त होनेका प्रयास करती है। ज्ञानका कर्म है बुद्धिके द्वारा ग्रहण करना और परिच्छिन्न बुद्धिके लिये इसका अर्थ होता

है लक्षण करना और निर्धारित करना। परंतु अनिर्वार्यको निर्धारित करनेका एकमात्र मार्ग किसी-न-किसी प्रकारका सार्वत्रिक निषेध अर्थात् "नेति नेति" ही होता है। इसलिये बुद्धि सनातन-संबंधी जो कोई कल्पना करती है उसमेंसे उन सब चीजोंको हटाती चलती है जो इंद्रियों और हृदय तथा बुद्धिद्वारा परिच्छिन्न होनेवाली प्रतीत होती है। आत्मा और अनात्मा, नित्य अक्षर अलक्ष्य आत्मसत्ता और अन्य सब प्रकारके जीवन, इन दोनोंके बीच—ब्रह्म और मायाके बीच, अनिर्वचनीय सद्वस्तु और अनिर्वचनीयका निर्वचन करनेका यत्न करनेवाले पर निर्वचन न कर सकनेवाले सब पदार्थोंके बीच—कर्म और निर्वाणके बीच, विश्व-प्रकृतिकी कल्पना, उसकी निरंतर क्रियाशीलताके साथ ही उसकी चिरंतन क्षणभंगुरता और उसकी कल्पना और कर्मका एक ऐसा निरपेक्ष अनिर्वचनीय परम निषेध जो प्राण, मन और कर्मसे सर्वथा रिक्त है, इन दोनोंके बीच पूर्ण विरोध खड़ा किया जाता है। नित्यको पानेके लिये ज्ञानकी बलवती प्रवृत्ति अनित्य पदार्थमात्रसे हटा ले जाती है। जीवनके मूलकी ओर लौट चलनेके लिये जीवन-का निषेध करती है, हम जो कुछ समझते हैं कि हम हैं उससे निकलकर जीवनके अनाम अपौरुषेय सत्तत्त्वको पानेके लिये 'अभी जो कुछ है'-से मालूम होते हैं उसीका निषेध कर देती है। हृदयकी कामनाएं, मनके कर्म और बुद्धिकी कल्पनाएं हटा दी जाती हैं; अंतमें ज्ञानतकका निषेध किया जाता और अभेद और अज्ञेयमें उसका अंत किया जाता है। उत्तरोत्तर बढ़नेवाली निष्क्रिय शांतिका यह मार्ग जिसका अंत निरपेक्ष नैष्कर्म्यमें होता है, इस मायाकृत जीवको अथवा यह कहिये कि जिन सब संस्कारों-

की उस गठरीको हम अपना-आप कहते हैं, उसकी आपेकी कल्पना-को खतम कर देता, जीवनरूपी झूठका अंत करता और स्वयं निर्वाणमें समाप्त हो जाता है।

परंतु स्व-निषेधका यह कठिन तात्त्विक मार्ग, कुछ लोकोत्तर प्रकृतिवाले व्यक्तियोंको भले ही अपनी ओर आकर्षित करे, सर्व-सामान्य देहधारी मनुष्योंके लिये सुखावह नहीं हो सकता, कारण यह मार्ग मनुष्यकी जो विविध प्रकारकी प्रकृति है उसकी सब वृत्तियोंको सनातन परमकी ओर प्रवाहित होनेका कोई रास्ता नहीं देता। मनुष्यकी केवल तात्त्विक विचारबुद्धि ही नहीं बल्कि उसका लालसामय हृदय, कर्मप्रवण मन, किसी ऐसे सत्यका अनु-संधान करनेवाली उसकी ग्रहणशील बुद्धि जिसमें उसका जीवन और सारे जगत्का जीवन एक बहुविध कुंजीका काम करते हैं, इन सबकी ही उन नित्य और अनंतकी ओर अपनी एक विशेष प्रवृत्ति है और ये सभी उसमें अपना भगवदीय मूल और अपने जीवन तथा अपनी प्रकृतिकी चरितार्थता ढूंढ़नेमें यत्नवान् हैं। इसी प्रयोजनसे भक्ति और कर्मके साधक धर्म उत्पन्न होते हैं, इनकी यह सामर्थ्य है कि ये हमारे मानव भावकी अत्यंत कर्मशील और विकसित शक्तियोंको संतुष्ट करते और भगवान्की ओर ले जाते हैं, कारण, इन्हीसे प्रारंभ करनेसे ज्ञान अव्यर्थ होता है। बौद्ध धर्म जो इतना तपःप्रधान है और केवल जगन्मिथ्यात्वको ही नहीं बल्कि अहं-मिथ्यात्वको भी इतनी कट्टरताके साथ माननेवाला है उसे भी अपनी मूलभित्ति लोकोत्तर कर्मानुष्ठानपर ही रखनी पड़ी और भक्तिके स्थानमें जागतिक प्रेम और करुणाकी एक विशेष आध्यात्मिक भावुकताको ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि ऐसा करनेसे

ही बौद्ध धर्म मानवजातिके लिये एक अमोघ मार्ग, एक सच्चा मुक्तिप्रद धर्म बन सकता था। जगत्‌को भ्रम माननेवाले मायावादतकको, कर्म और मनकी उपाधियोंके संबंधमें उसकी इतनी आत्यंतिक तर्कनिष्ठुर असहिष्णुताके होते हुए भी, मनुष्य और जगत् तथा जगत्‌मे स्थित ईश्वरकी तात्कालिक और व्यावहारिक सत्ता इसीलिये मान लेनी पडी कि यह साधनका प्रथम सोपान और प्रस्थानका सुविधाजनक प्रारंभ-स्थान बन सकता है; जो बात मायावादके सिद्धातमें नही आती वही बात, मनुष्यकी बद्धावस्था और मुक्तिके लिये उसके प्रयासको किसी प्रकार वास्तविक करार देनेके लिये, मान लेनी पड़ी।

परंतु कर्मप्रधान और भक्तिप्रधान धर्मोंमें जो दुर्बलता है वह यह है कि वे किसी भगवदीय विग्रह तथा परिच्छिन्नकी भगवत्तामें बहुत अधिक आसक्त रहते है। और जब वे अपरिच्छिन्न अनंत भगवान्‌की भावना करते भी है, तब भी उनसे ज्ञानकी पूर्ण तृप्ति नही होती क्योकि वे उसकी चरम और परम स्थितितक जानेका कोई प्रयास नही करते। ये धर्म सनातनमें पूर्ण लय और तादात्म्यके द्वारा उसके साथ पूर्ण मिलनके बहुत ही इधर रह जाते है—यद्यपि उस तादात्म्यतक किसी अन्य मार्गसे (यदि तात्त्विक दृष्टिको लेकर न सही, क्योकि वहां सब प्रकारके एकीभावका आधार है) मनुष्यके अंदर जो आत्मा स्थित है उसे किसी-न-किसी दिन पहुचना ही होगा। इसके विपरीत बुद्धिप्रधान निष्क्रिय अध्यात्मवृत्तिमे जो दुर्बलता है वह यह है कि वह अति तात्त्विक निष्ठाके द्वारा इस परिणामपर पहुंचती और अतमें उस मानव जीवको ही न-कुछ अथवा एक अयथार्थ कल्पनामात्र बना

डालती है जिसकी सारी अभीप्साका लक्ष्य अपने साधनकालमें सतत रूपसे इन्हीं तादात्म्यरूप मिलनको प्राप्त होना रहा है; कारण जीव और उसकी अभीप्साके बिना मुक्ति और मिलनका कुछ अर्थ नही हो सकता। यह विचारमार्ग जीवसत्ताकी अन्य शक्तियोंको जो कुछ थोडीसी मान्यता देता भी है उसे भी एक ऐसे कनिष्ठ प्रारंभिक कर्मकी कोटिमे डाल देता है जो सनातन और अनंतका किसी प्रकार पूर्ण या संतोषजनक रूपसे साक्षात्कार करनेमें समर्थ नही। पर ये चीजें भी जिन्हे यह विचारमार्ग अनुचित रूपसे अवरुद्ध रखता है अर्थात् कार्यक्षम मन-संकल्प, भक्तिका विकल प्रबल प्रवाह, प्रत्यक्ष प्रकाश और चिन्मय प्राज्ञ पुरुषका सर्वसमालिंगनशील अंतर्ज्ञान—ये सब चीजे—भगवान्से ही आती है, उन्हीकी स्वरूपगत शक्तियोंको निरूपित करती हैं और इसलिये उन्हींमें—जो इनके मूल है—इनके होनेका कोई-न-कोई औचित्य होना ही चाहिये और उन्हीमें इनकी स्व-परि-पूर्णताकी प्राप्तिका कोई-न-कोई शक्तिशाली मार्ग भी। इनका यह जो स्वतःसिद्ध प्राप्तव्य है उसे जो ज्ञान अप्राप्त ही छोड़ देता है, वैसा कोई भगवत्संबंधी ज्ञान पूर्ण, सिद्ध और सर्वतः संतोष-जनक नही हो सकता न कोई ऐसा ज्ञान सर्वथा ज्ञानयुक्त हो सकता है जो आत्मानुसंधानकी अपनी असहिष्णु संन्यासवृत्तिसे भग-वान्के इन विभिन्न मार्गोंके पीछे रहे हुए आध्यात्मिक सत्तत्त्वका निषेध करता अथवा केवल ज्ञानके अभिमानसे इन्हे तुच्छ समझता है।

गीताके जिस केंद्रस्थ विचारमे उसके सब धागे एकत्र और एकीभूत होते है उसकी सारी महत्ता एक ऐसी भावनाकी समन्वय-

साधकतामें है जिस भावनामें जगत्के अंदर मानव जीवकी समूची प्रकृतिको मान्यता मिलती और एक विशाल और ज्ञानयुक्त एकीकरणके द्वारा उसकी उस परम सत्य, शक्ति, प्रेम, सत्स्वरूप-संबंधिनी बहुविध आवश्यकताका औचित्य सिद्ध होता है जिसकी ओर हमारा मानव भाव संसिद्धि और अमृतत्व तथा उत्कृष्ट आनंद, शक्ति और शांतिकी खोजमें मुड़ा करता है। ईश्वर, मनुष्य और जागतिक जीवनको एक अतिव्यापक आध्यात्मिक दृष्टिसे देखनेका यह एक प्रबल और विशाल प्रयास है। अवश्य ही यह बात नहीं है कि गीताके इन अठारह अध्यायोमें सब कुछ आ गया हो और एक भी बात छूटी न हो, कोई आध्यात्मिक समस्या अब भी ऐसी न हो जिसे हल करना अभी बाकी हो; परंतु फिर भी इस ग्रंथमें ज्ञानकी इतनी विस्तृत भूमिका बांधी जा चुकी है कि हम लोगोके लिये इतना ही काम बाकी है कि जो जगह इसमें खाली हो उसे भर दें, जो बीजरूपमें हो उसे विकसित करें, संशोधित करें, जहां अधिक जोर देना हो वहां अधिक जोर दें, इसमेसे जो विचारणीय बातें निकल सकती हों उन्हें निकालें, जो बात संकेतमात्रसे कही गयी हो उसका विस्तार करें और जो अस्पष्ट हो उसे विशद करें ताकि हमारी बुद्धिका और जो कुछ तकाजा हो, हमारे आत्मभावके लिये और जो कुछ आवश्यक हो उसका कुछ पता चले। स्वयं गीता अपने प्रश्नोंके अंदरसे ही उनका कोई सर्वथा नया समाधान निकालकर सामने नहीं रखती। जो व्यापकता उसका लक्ष्य है उसतक पहुंचनेके लिये गीताको महान् दार्शनिक संप्रदायोके पीछे रहे हुए मूल औपनिषद वेदांतके समीप जाना पड़ता है; कारण उपनिषदोमें ही

हमें आत्मा, मानव जीव तथा समष्टिजगत्का अत्यंत व्यापक, गभीर, जीवंत और समन्वित दर्शन होता है। परंतु उपनिषदोंमें जो कुछ अंतर्ज्ञानदृष्टिने प्राप्त ज्योतिर्मय मंत्ररूप और सांकेतिक भाषासे समाच्छन्न होनेके कारण बुद्धिके सामने खुलकर नही आता उसे गीता तत्पश्चात्कालीन विचारणा और सुनिश्चित स्वानुभूतिके प्रकाशसे खोलकर सामने रखती है।

गीता अपने समन्वयके ढांचेके अंदर उस तत्त्वानुसंधानको स्थान देती है जो "अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षर" के ढूंढनेवाले उपासक किया करते हैं। इस अनुसंधानमें लगनेवाले भी "माम्" (मुझे) पुरुषोत्तमको—परमात्मा और परमेश्वरको—प्राप्त करते हैं। कारण उनका परम स्वतःसिद्ध स्वरूप अचिंत्य है, वे "अचिन्त्यरूपम्" हैं, वह रूप देशकालाद्यपरिच्छिन्न सर्ववस्तुस्वरूपोंका कैवल्यस्वरूप है, बुद्धिके लिये सर्वथा अचिंतनीय। निषेधस्वरूप निष्क्रियता, मौनवृत्ति, जीवन और कर्मके संन्यासका मार्ग जिससे लोग अनिर्देश्य परम स्वरूपके अनुसंधानमें लगते हैं, गीताकी दर्शन-प्रणालीमें स्वीकृत और समर्थित है, पर केवल एक गौण अनुज्ञाके रूपसे। यह निषेधात्मक ज्ञानमार्ग सनातन ब्रह्मकी ओर सत्यके एक पहलूको लिये चलता है और यह वह पहलू है जहां "दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" प्रकृतिस्थ देहधारी जीवोंके लिये पहुंचना अत्यंत कठिन है; यह मार्ग नियमादिकोंसे बहुत ही कसा हुआ और अनावश्यक रूपसे दुर्गम बना हुआ है, इसपर चलना "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया" पर चलना है। सब संबंधोंको त्यागकर नहीं बल्कि सब संबंधोंके द्वारा वे 'अनंत' भगवान् मनुष्यके लिये स्वाभाविक रूपसे प्राप्य और बहुत सुगमताके साथ, अत्यंत व्या-

एक और अत्यंत आत्मीय रूपमें मनुष्य उन्हें पा सकता है। यह देखना कि परम तत्त्व "अव्यवहार्य" है अर्थात् जगत्‌में स्थित मनुष्यके मनोमय, प्राणमय और अन्नमय जीवनसे वह कोई ताल्लुक नहीं रखता, व्यापकतम या परम सत्य नहीं है, न जिसे "व्यवहार" या जगत्प्रपंच कहते है वह परमार्थके सर्वथा विपरीत ही है। प्रत्युत सहस्रों ऐसे संबंध है जिनके द्वारा सनातन परम पुरुषका हमारे मानवजीवनके साथ गुप्त संपर्क और एकीभाव है और हमारी प्रकृति तथा जगत्‌की प्रकृतिके जितने भी मूलभाव है उन सबके द्वारा, "**सर्वभावेन**" वह संपर्क इंद्रियगम्य हो सकता है और वह एकीभाव हमारे जीवचैतन्य, हृदय, मन, बुद्धि और आत्म-चैतन्यको प्रत्यक्ष अनुभूत हो सकता है। इसलिये यह दूसरा मार्ग मनुष्यके लिये स्वाभाविक और सुलभ है—'**सुखमाप्तुम्**' है। भगवान् अपने-आपको हमारे लिये किसी प्रकार दुर्लभ नहीं बना रखते; केवल एक चीजकी जरूरत है, एक ही मांग है जो पूरी करनी होगी, वह चीज यही है कि जीवको अपने अज्ञानका आव-रण भेदनेकी अनन्य अदम्य लालसा हो और उसका मन-बुद्धि, हृदय और प्राणोंके द्वारा होनेवाला सारा अनुसंधान निरंतर उसी-के लिये हो जो सतत उसके समीप है, उसीके अंदर है, उसीके जीवनका जीवनतत्त्व, उसका आत्मतत्त्व, उसके वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक भावका गुप्त तत्त्व, उसका आत्मा और उसकी प्रकृति दोनों है। हमारी सारी कठिनाई इतनी ही है, बाकी हमारी सत्ताके स्वामी स्वयं देख लेंगे और उसे पूरा करेंगे—"अहं त्वां **मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**"

गीतोपदेशके जिस भागमें गीताके समन्वयका रुख विशुद्ध

ज्ञानपक्षकी ओर बहुत ही अधिक है उसी भागमें हम लोग यह देख चुके हैं कि गीता अपने श्रोताको इस पूर्णतर सत्य और अधिक अर्थपूर्ण अनुभवके लिये बराबर तैयार कर रही है। स्वत-सिद्ध अक्षर ब्रह्मके साक्षात्कारका जैसा निरूपण गीताने किया है उसीमें यह भाव निहित है। गीतानिरूपित वह अक्षर सर्व-भूतांतरात्मा अवश्य ही प्रकृतिके कर्मोंमें प्रत्यक्ष रूपसे कोई दखल देता नजर नहीं आता; पर प्रकृतिके साथ उसका कोई संबंध न हो और प्रकृतिसे वह सर्वथा दूर हो ऐसी भी बात नहीं है। कारण वह हमारा द्रष्टा और भर्त्ता है; वह मौन और निर्वैय-क्तिक अनुमति देता है; निष्क्रिय भोगतक वह भोगता है। आत्माकी उस स्थिर शांत ब्राह्मी स्थितिमें समवस्थित रहते हुए भी प्रकृतिका बहुविध कर्म हो सकता है, कारण द्रष्टा आत्मा अक्षर पुरुष है और पुरुषका प्रकृतिके साथ किसी-न-किसी प्रकार-का संबंध सदा रहता ही है। पर अब निष्कर्म और सकर्मके इस द्विविध स्वरूपका कारण उसके पूर्ण आशयके साथ खोलकर बतला दिया गया,—क्योंकि निष्क्रिय सर्वव्यापक ब्रह्म भगवान्‌के सत्स्वरूपका केवल एक अंग है। वही एक अविकार्य आत्मा जो जगत्‌में व्याप्त और कृतिके सब विकारोंका आश्रय है, वही, सम-रूपसे मनुष्यमें स्थित ईश्वर, त्येक प्राणीके हृदयमें रहनेवाला भु, हमारे संपू अंतःकरण तथा बाहरसे अंदर लेने और अंदरसे बाहर भेजनेकी उसकी सारी बाह्य क्रियाका सज्ञान कारण और स्वामी है। योगियोंका ईश्वर और ज्ञानमार्गियोंका ब्रह्म एक ही है, वही परमात्मा और जगदात्मा है, वही परमेश्वर और जग-दीश्वर है।

यह ईश्वर वैसा देशकालपरिच्छिन्न व्यष्टिभूत ईश्वर नहीं है जैसा कि कुछ लौकिक संप्रदाय माना करते हैं; ईश्वरके वैसे व्यष्टिभूत रूप तो ईश्वरकी समग्र सत्ताका जो अन्य पहलू है जो सर्जन करता और संचालन करता है, जो व्यष्टीकरणका पहलू है उसीके केवल आंशिक और वाह्य विग्रहमात्र हैं। यह ईश्वर एकमेव परम पुरुष, परमात्मा, परमेश्वर है, सब देवता जिसके विभिन्न रूप है, सारी पृथक्-व्यष्टिभूत सत्ता इस विश्वप्रकृतिमें जिसके आविर्भावकी एक परिमित मात्रा है। यह ईश्वर भगवान्का कोई विशिष्ट नाम और रूप नही, वह इष्टदेवता नही जिसे उपासककी बुद्धिने कल्पित किया हो अथवा उसकी कोई विशिष्ट अभीप्सा जिसमे मूर्त्त हुई हो। ऐसे सब नाम और रूप उन एक देवकी केवल शक्तियां और मूर्त्तियां है जो सब उपासकों और संप्रदायोंके जगदीश्वर हैं, ये देव-देव है। यह ईश्वर अपौरुषेय अलक्षणीय ब्रह्मका भ्रमात्मक मायाके अंदर प्रतिविंब नहीं है; क्योंकि सारे विश्वके परेसे तथा विश्वके अदरसे भी वे सब लोकों और उनमें रहनेवाले जीवोका शासन करते हैं तथा उनके प्रभु है। वे वैसे परब्रह्म हैं जो परमेश्वर है क्योंकि वे ही परम पुरुष और परम आत्मा है, वे ही अपने परतम मूल स्वरूपसे विश्वको उत्पन्न करते और उसका शासन करते है, मायाके वश होकर नहीं बल्कि अपनी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्तासे। जगत्में उनकी भागवत प्रकृतिका जो कार्य होता है वह भी उनकी या हमारी चेतनाका कोई भ्रम नही है। भ्रममें डालनेवाली माया तो केवल निम्नगा प्रकृतिके अज्ञानकी हुआ करती है। यह निम्नगा प्रकृति एकमेव निरपेक्ष ब्रह्मकी अगोचर सत्ताके आधारपर असत् पदार्थोंकी

निर्माणकर्त्री नहीं है, बल्कि इनकी अंध भाराक्रांत परिच्छिन्न कार्य-प्रणाली अहंकारका रूपक बांधकर तथा मन-बुद्धि, प्राण और जड़-शरीरके अधूरे रूपकोंद्वारा जीवनके महत्तर अभिप्रायको, जीवनके गभीरतर सत्स्वरूपको मानवी बुद्धिके सामने कुछका कुछ और ही भासित करती है। एक परा, भागवती प्रकृति है जो विश्व-सृष्टिकी वास्तविक कर्त्री है। सब प्राणी और सब पदार्थ एक ही भागवत पुरुषके भूतभाव हैं; सारी प्राणशक्ति एक ही प्रभु-की शक्तिका व्यापार है; सारी प्रकृति एक ही अनंतका आवि-र्भाव है। वे ही मनुष्यमें स्थित ईश्वर हैं; जीव उन्हींके आत्म-स्वरूपका अंशरूप आत्मस्वरूप है। वे ही विश्वमें स्थित विश्वे-श्वर हैं; दिक्कालावच्छिन्न यह सारा विश्व उन्हींका प्राकृत आत्म-विस्तार है।

जीवन और परम जीवनके इस व्यापक दर्शनकी उद्घाटन-परंपरामें ही गीतोक्त योगका एकीभूत अर्थगांभीर्य और अनुपम श्रीसंवर्धन है। ये परम पुरुष परमेश्वर एक ही सर्वभूताधिवासी अविकार्य अक्षर पुरुष हैं; इसलिये इस अविकार्य अक्षर पुरुषके आत्मस्वरूपकी ओर मनुष्यको जाग्रत् होकर उसके साथ अपने अंतस्थ अवैयक्तिक स्वरूपको एक करना होता है। मनुष्यमें वे ही परमेश्वर हैं जो उसकी सब क्रियाओंके उत्पादक और चालक हैं; इसलिये मनुष्यको इन स्वांतस्थ ईश्वरकी ओर जागना, उसके अपने अंदर घर बनाकर रहनेवाले भगवत्तत्त्वको जानना, उसे ढांकने और छिपानेवाले सब आवरणादिकोंसे ऊपर उठ आना और आत्माके इन अंतरतम आत्माके साथ, अपने चैतन्यके इस वृहत्तर चैतन्यके साथ, अपने सारे मन-वचन-कर्मके इन गुप्त स्वामीके साथ,

अपने अंदरके इस स्वरूपके साथ जो उसके सारे विभिन्न भूतभावों-का मूल उद्गम और परम गंतव्य स्थान है, एकीभूत होना होता है। ये ही वे परमेश्वर हैं जिनकी वह भागवती प्रकृति जो हम लोग जो कुछ हैं उसकी मूलभूता है, इन निम्न प्रकृतिके विकारोंसे समाच्छन्न है; इसलिये मनुष्यको अपनी निम्न बाह्य प्रकृतिसे, जो त्रुटिपूर्ण और मर्त्य है, पीछे हटकर अपनी मूलभूता अमृतस्वरूपा शुद्ध बुद्ध भागवती प्रकृतिको प्राप्त होना होता है। ये परमेश्वर यावत् पदार्थोंके अंदर एक है, वह आत्मा है जो सबके अंदर रहता है और जिसके अंदर सब रहते और चलते-फिरते हैं; इसलिये मनुष्यको सब प्राणियोंके साथ अपना आत्मैक्य ढूढ़ निकालना, सब-को उस एक आत्माके अंदर देखना और उस आत्माको सबके अंदर देखना, सब पदार्थों और प्राणियोंको 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' सर्वत्र आत्मवत् देखना और तदनुसार ही अपने मन, बुद्धि और प्राणके सब कर्मोंमें सोचना, अनुभव करना और कर्म करना होता है। ये ईश्वर यहां अथवा और कहीं जहां जो कुछ है उसके मूल हैं और वे अपनी ही प्रकृतिके द्वारा ये असंख्य पदार्थ और प्राणी बने हैं, 'अभूत् सर्वभूतानि'; इसलिये मनुष्यको सब जड़ और चेतन पदार्थोंमें उन्हींको देखना और पूजना होता है; सूर्यमें, नक्षत्र-में, फूलमें, मनुष्य और प्रत्येक जीवमें, प्रकृतिके सब रूपों और वृत्तियों तथा गुणों और शक्तियोंमें 'वासुदेवः सर्वमिति' जानकर उन्हींके आविर्भावका पूजन करना होता है। भागवत सत्ताके अंतर्दर्शन और भागवत सहानुभूतिके द्वारा और अंतमें सुदृढ आंत-रिक अभेद-स्थितिके द्वारा उसे विश्वके साथ एकीभूत होकर विश्व-मय बनना पड़ता है। अक्रिय निरपेक्ष अभेद-भावमें प्रेम

और कर्मके लिये कोई स्थान नहीं रहता। पर यह अधिक विशाल और समृद्ध अभेदभाव कर्मोंके द्वारा तथा विशुद्ध प्रेमभावके द्वारा अपने-आपको परिपूर्ण करता है; यह हमारे सब कर्मों और भावोंका मूल उद्गमस्थान, आश्रय, मार्ग, प्रेरक भाव और अलौकिक प्रयोजन बनता है। कस्मै देवाय हविषा विधेम—किस देवताको हम लोग अपना जीवन और अपने कर्म नैवेद्यके तौरपर भेंट करें? ये ही वे भगवान् हैं, वे प्रभु हैं, जो हमारे यजनके अधिकारी हैं। अक्रिय निरपेक्ष अभेद-भावमें पूजा और भक्तिभावका कोई आनंद नहीं रहता, पर भक्ति तो इस अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक घनिष्ठ मिलनका साक्षात् आत्मा और हृदय और शिखर है। इन्हीं भगवान्में पिता, माता, प्रेमी, सखा, सर्वभूतोंके अंतरात्माके आश्रय—ये सभी संबंध अपनी पूर्ण परितृप्ति लाभ करते हैं। ये ही एकमेव परम और विश्वव्यापक देव, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, औपनिषद ईश्वर हैं। इन्होंने ही अपने अंदर इन सब विभिन्न रूपोंमें अपने ऐश्वर योगके द्वारा जगत्को प्रकट किया है; इसके अनेकानेक विविध भूतभाव इनके अंदर एक हैं और ये उन सबके अंदर विविध रूपोंमें एक हैं। एक साथ इन सब रूपोंमें उन्हें देखनेके लिये मनुष्यका जाग उठना उसी ऐश्वर योगका मानवी पहलू है।

भगवान्के उपदेशका यही परम और पूर्ण अर्थ है, यही वह समग्र ज्ञान है, जिसे प्रकट करनेका भगवान्ने वचन दिया था, इस बातको पूर्णतया और असंदिग्ध रूपसे स्पष्ट करनेके लिये भागवत अवतार अबतक जो कुछ कहते रहे हैं उसीके निष्कर्षको सारांश रूपसे फिरसे कहकर यह बतलाते हैं कि, यही, कोई अन्य

नहीं, मेरा 'परमं वचः' परम वचन है। "भूय एव शृणु मे परमं वचः"—"मेरे परम वचनको फिरसे सुनो।" गीताका यह परम वचन, हम देखते हैं कि, प्रथमतः यही स्पष्ट और असंदिग्ध घोषणा है कि भगवान्की परमा भक्ति और परम ज्ञान उन्हें इस रूपमें जानना और पूजना है कि वे यह जो कुछ भी है इसके परम और दिव्य मूल हैं और इस जगत् तथा इसके प्राणियोंके सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर हैं और जितने भी पदार्थ हैं सब उन्हींकी सत्ता-के भूतभाव हैं। इस परम वचनमें दूसरी बात फिर यह है कि एकीभूत ज्ञान और भक्तिको परम योग कहा गया है; यही सना-तन पुरुष श्रीपरमेश्वरके साथ मिलन लाभ करनेका मनुष्यके लिये सुनिश्चित और स्वाभाविक मार्ग है। और मार्गके इस निर्देशको और भी अर्थपूर्ण रूपसे प्रकट करनेके लिये, यह भक्ति जो ज्ञानपर प्रतिष्ठित और ज्ञानकी ओर उन्मुख तथा भगवन्नियत कर्मोंकी भित्ति और चालक शक्ति है इसके स अत्यधिक महत्त्वको हृदयमें प्रकाशित करनेके लिये यह बतलाया जाता है कि शिष्य अपने सर्वांतःकरण और हृदयसे इस मार्गको पहले ग्रहण कर ले, तभी वह आगे बढ सकता और मानव यंत्र अर्जुनकी तरह अंतमें भगवन्मुखसे कर्मका वह अंतिम आदेश सुननेका अधिकारी हो सकता है। भगवान् श्री-मुखसे कहते हैं, "मैं अपनी इच्छासे तेरे हितके लिये वह परम वचन तुझसे कहूंगा, क्योंकि अब तेरा हृदय मेरे अंदर आनंद ले रहा है", 'ते प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।' कारण भगवान्में हृदयकी यह प्रीति होना ही सच्ची भक्तिका संपूर्ण घटक और सारतत्त्व है। कहा है, 'भजन्ति प्रीतिपूर्वकम्'। ज्योंही परम वचन सुनाया जाता है अर्जुन तुरत उसे ग्रहण करता और यह पूछता है कि प्रकृतिके

इन सब पदार्थोंमें मैं भगवान्को कैसे देखूं, और उसी प्रश्नसे तुरत और स्वाभाविक रूपसे विश्वके आत्मारूप भगवान्के दर्शन होते है और तब जगत्कर्मका वह भीषण आदेश आता है।[1]

भगवान्के विषयमें गीताका जो यह आग्रह है कि भगवान् इस सारे जगत् और जागतिक जीवनके संपूर्ण रहस्यके निगूढ़ मूल हैं, यह ज्ञान मोक्षदायक होनेके साथ-साथ वह ज्ञान है जो कालके अंदर होनेवाले इस सारे विश्वकर्मप्रवाह और कालातीत सनातन सत्स्वरूपके बीच देख पडनेवाली खाईको पाट देता है। पर ऐसा करते हुए यह ज्ञान इन दोनोंमेंसे किसीको भी असत् नही करार देता न किसीके भी सत्स्वरूपसे कोई चीज निकाल लेता है। प्रत्युत यह सारा विश्व ही ईश्वर है अथवा इस विश्वका कोई विश्वातीत ईश्वर है या जो कोई परम तत्त्व हमारे आध्यात्मिक ध्यानमें या आत्मानुभूतिमे आते है—उन सबका इस ज्ञानमें सामंजस्य हो जाता है। भगवान् अज अविनाशी अनंत आत्मा हैं जिनका कोई आदि नही; कोई ऐसी चीज न है न हो सकती है जिसमेंसे वे निकले हों, कारण वे एक है, कालातीत है, निरपेक्ष है। "मेरा जन्म न देवता जानते है न महर्षि ही। ....जो मुझ अज अनादि जानता है" इत्यादि इस परम वचनके उपोद्घात है, और यह परम वचन यह आश्वासन देता है कि यह ज्ञान परिच्छेदक अथवा बौद्धिक ज्ञान नही है, क्योंकि उस परम पुरुषका रूप और स्वभाव, उसका स्वरूप,—यदि उसके लिये इन शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता हो,—मनके द्वारा चिंत्य नही है, 'अचिन्त्य-

---

[1] अ. १० श्लोक १–१८

रूपम्'; बल्कि यह विशुद्ध आत्मानुभूत ज्ञान है और यह मर्त्य मनुष्य-को अज्ञानके सारे असमंजससे तथा पाप, दुःख और बुराईके सारे बंधनोंसे मुक्त करता है—"यो वेत्ति असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।" जो मानव जीव इस परम आत्मज्ञानके प्रकाशमें रह सकता है वह जगत्‌के काल्पनिक या इंद्रियगोचर अर्थोंके परे पहुंचता है। वह उस अद्वैतकी अनिर्वचनीय शक्तिको प्राप्त होता है जो सबके अतीत होनेपर भी सबका पूरण करनेवाला है, जो सबके परे भी और यहां भी एकरस है। सर्वातीत अनंत-विषयक यह आत्मानुभूति विश्वके ही सब पदार्थोंको ईश्वर या देव माननेवाले सर्वेश्वरवाद (Pantheism) की सब सीमाओंको तोड़ डालती है। विश्वरूप-एकेश्वरवादमें विश्व और ईश्वर एक ही है, उसमें अनंतकी जो कल्पना है वह ईश्वरको उसके जगद्रूप आविर्भावमें कैद रखनेका प्रयास करती और ईश्वरको जाननेका एकमात्र उपाय इस विश्वको ही बतलाती है; परंतु यह आत्मानुभूत ज्ञान हमें मुक्त कर दिक्कालातीत सनातन स्वरूपमें ला छोड़ता है। "तेरे आविर्भावको न देवता जानते है न असुर ही" यही अपने जवाबमें अर्जुन कह उठता है। यह सारा जगत् अथवा ऐसे असंख्य जगत् भी उन्हे प्रकट नहीं कर सकते न उनके लोक-विलक्षण आलोक और असीम माहात्म्यको धारण कर सकते है। ईश्वरसंबंधी और जो कोई इससे कनिष्ठ कोटिका ज्ञान है वह यदि सत्य है तो इन्ही परम पुरुष परमेश्वरके चिराव्यक्त अनिर्वचनीय सत्स्वरूपपर आश्रित होनेसे ही है।

परंतु फिर भी यह जो परम पद है, विश्वका निषेधस्वरूप नहीं है, न कोई ऐसा निरपेक्ष स्वरूप है जिसका विश्वके साथ

कोई संबंध न हो। यह परम वस्तुतत्त्व है, सब निरपेक्षोंका निर-पेक्ष है। विश्वगत सारे संबंध इन्हीं परमसे निकलते हैं; विश्व-के सब पदार्थ और प्राणी इन्हींको लौट जाते हैं और केवल इन्हींमें अपना वास्तविक और अपरिमेय जीवन लाभ करते हैं। "सर्वशः मैं ही सब देवताओं और महर्षियोंका आदि हूं।" देवता वे अमर शक्तियां और अमर विग्रह हैं जो विश्वकी अंतर्बाह्य शक्तियोंको सचेतन रूपसे भीतर ही भीतर गढ़ते हैं तथा उनके बनानेवाले और अध्यक्ष रूपसे उन्हें चलानेवाले हैं। देवता सना-तन और मूल देवाधिदेवके आध्यात्मिक रूप हैं और उन देवाधि-देवसे निकलकर जगत्की नाना शक्तियोंमें उतर आते हैं। देवता अनेकविध हैं, सार्वत्रिक हैं और वे आत्मसत्ताके मूलतत्त्वों और उसकी सहस्त्रों गुत्थियोंसे एक ही का यह नानात्वसमन्वित जग-ज्जाल निर्मित करते हैं। उनकी अपनी सारी सत्ता, प्रकृति, शक्ति, कर्मपद्धति हर तरहसे, अपने एक-एक तत्त्व और अपनी बनावटके एक-एक धागेमें परम पुरुष परमेश्वरकी सत्तासे ही निकलती है। यहांका कोई भी पदार्थ ये दैवी कार्य-कर्त्ता स्वतः निर्मित नहीं करते, अपनेसे ही कोई कार्य नहीं करते; हर चीजका मूल, मूल कारण, उसके सत्-भाव और भूत-भावका मूल आध्यात्मिक कारण स्वत.सिद्ध परम पुरुष परमेश्वरमें ही होता है—"अहम् आदिः सर्वशः।" जगत्की किसी चीजका मूल कारण जगत्में नहीं है; सब कुछ परम सत्से ही प्रवृत्त होता है।

महर्षि जो वेदोंकी तरह यहां भी 'महर्षयः सप्त पूर्वे' जगत्के सप्त पुरातन कहे गये हैं, उस भागवत ज्ञानकी धीशक्तियां हैं जिसने अपने ही स्वात्मसचेतन आनंत्यसे, 'प्रज्ञा पुराणी'से सब

पदार्थोंका विकास कराया है—अपने ही सत्तत्त्वके सात तत्त्वोंकी श्रेणियोंको व्याकृत किया है। ये ऋषि वेदोंकी सर्वधारक, सर्व-बोधक, सर्वप्रकाशक 'सप्त धियः' के रूप हैं—उपनिषदें सब पदार्थोंको 'सप्त सप्त' अर्थात् सात सातकी पंक्तिमें व्यवस्थित बतलाती हैं। इनके साथ ही चार शाश्वत मनु अर्थात् मनुष्यके मूलपुरुष हैं—कारण परमेश्वरकी कर्मप्रकृति चतुर्विध है और मानवजाति इस प्रकृतिको अपने चतुर्विध चारित्र्यसे प्रकट करती है। ये भी, जैसा कि उनके नामसे प्रकट है, मनोमय पुरुष हैं। इस समूचे जीवनके जिसकी क्रिया व्यक्त या अव्यक्त मानसपर निर्भर करती है, ये स्रष्टा हैं, उन्हींसे जगत्के ये सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं; सब उन्हींकी प्रजा और संतति है—"येषां लोक इमाः प्रजाः।" और ये महर्षि तथा ये मनु स्वयं भी परम पुरुषके चिरंतन मानस पुत्र हैं[1] जो उनके आध्यात्मिक परम भावसे विश्वप्रकृतिके अंदर उत्पन्न हुए हैं। ये मूल पुरुष हैं पर जगत्में जो जो कुछ उत्पादक है उस सबके मूल भगवान् हैं। सब आत्माओंके आत्मा, सब जीवोंके जीव, अखिल मानसके मानस, अखिल जीवनके जीवन, सब रूपोंके सारतत्त्वस्वरूप ये स्वतःसिद्ध परम तत्त्व हैं, हम लोग जो कुछ हैं उसके सर्वथा विपर्यय नहीं, बल्कि इसके विपरीत हमारे और जगत्के संपूर्ण सद्रूप और प्राकृत रूपके सारे तत्त्वों और शक्तियोंके स्वतःसिद्ध उत्पादक और प्रकाशक हैं।

हमारे जीवनके ये परम मूल हमसे किसी ऐसी खाईसे पृथक् नहीं हैं जिसे पाटा न जा सके और न वे इन प्राणियोंको, जो

---

[1] मद्भावा मानसा जाताः।

उन्हींसे निकले हैं, अपनी संतान माननेसे इन्कार करते हैं न इन सबको वे भ्रमकी सृष्टि ही बतलाते हैं। वे ही सदात्मा हैं और सब कोई उन्हींके भूतभाव हैं। वे शून्यमेंसे, किसी अभावमेंसे या स्वप्नरूप मिथ्यात्वमेंसे कोई पदार्थ नहीं निर्मित करते। अपने-आपमेंसे निर्मित करते हैं, अपने अंदर ही वे उत्पन्न होते हैं, सब उन्हींके सद्रूपमें हैं, सब कुछ उन्हींके सद्रूपसे है। जगत्‌के पदार्थोंकी ओर देखनेकी जो विश्वदेववादकी दृष्टि है उसका अंतर्भाव इस सिद्धांतमें हो जाता है और फिर भी यह सिद्धांत उसके आगे बढ़ता है। "वासुदेवः सर्वम्" वासुदेव ही सब है, पर जगत्‌में जो प्रकट है वह सब वासुदेव ही है, क्योंकि वासुदेव वह सब भी हैं जो जगत्‌में प्रकट नहीं है, वह सब भी जो कभी व्यक्त नहीं होता। उनका सत्स्वरूप किसी प्रकार भी उनके भूतभावसे परिच्छिन्न नहीं है; तर-तमभावके इस जगत्‌से वे किसी अंशमें भी बद्ध नहीं हैं। सर्वभूत होनेमें भी वे हैं सर्वातीत ही; सांत रूपोंको धारण करते हुए भी वे हैं सदा वही अनंत ही। प्रकृति अपने असली रूपमें उन्हींकी आत्मशक्ति है; यह आत्मशक्ति भूतभावके अनंत मौलिक गुणोंको पदार्थोंके आंतरिक रूपोंमें उत्पन्न करती और उन्हें बाह्य रूपों और कार्योंमें परिणत करती है। इस आत्मशक्तिका जो असली, गूढ़ और भगवदीय व्यवस्थाक्रम है उसमें सबका और हर किसीका आध्यात्मिक मूल और आत्मस्वरूप ही सर्वप्रथम आता है, यह उसकी गभीर अभेद-स्थितिकी एक चीज है; इसके बाद सबका गुण-और-प्रकृतिगत मानस सत्य अपने संपूर्ण सत्यांशके लिये इस आत्मस्वरूपगत आध्यात्मिक सत्यपर निर्भर करता है; कारण उसके अंदर जो कुछ भी असली

चीज है वह आत्मासे ही आयी हुई है; न्यूनतम आवश्यक तथा सबसे अंतमें उत्पन्न यह रूप और कार्यका विषयभूत सत्य प्रकृतिके अंतर्गुणसे आता है और यहां इस बहिर्जगत्में जो विविध रूप देख पड़ते हैं उनके लिये यह उसीपर निर्भर करता है। अथवा यह कहिये कि, यह सारा विषयभूत जगत् जीवोंके विभिन्न भावोंके जोड़का केवल एक व्यक्त रूप है और जीवोंके जो ये विभिन्न भाव हैं वे सदा ही अपनी अभिव्यक्तिके मूल आध्यात्मिक कारणपर आश्रित रहते हैं।

यह सांत बाह्य भूतभाव भागवत आनंत्यको व्यक्त करनेवाला एक प्राकृत भाव है। प्रकृति गौणतः निम्नगा प्रकृति है, यह अनंतकी जो असंख्य संभावित स्थितियां है उनमेसे कुछ चुने हुए संघातोंका एक गौण विकारशील विकासक्रम है। आत्मभाव और भूतभावका जो असली और मानस गुण है जिसे 'स्वभाव' कहते हैं उससे रूप और तेज, कर्म और गतिके ये संघात उत्पन्न होते हैं और विश्वगत एकत्वके एक बहुत ही मर्यादित संबंध और पारस्परिक अनुभूतिके लिये ही इनकी स्थिति होती है। और इस निम्नगा, बहिर्भूत और प्रातिभासिक व्यवस्थाक्रममें प्रकृति, जो भगवान्‌के व्यक्त होनेकी एक शक्ति है, उसका यह रूप तमोवृत वैश्व अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंसे विकृत हो जाता है और उसका जो कुछ भागवत माहात्म्य या महत्त्व है वह हमारी मानस और प्राणिक अनुभूति या प्रतीतिकी पार्थिव, पृथग्भूत और अहंभावापन्न यांत्रिक जड़ स्थितिमें लुप्त हो जाता है। पर यहां इस हालतमें भी जो कुछ है प्रभव है तो, भाव है तो, प्रवृत्ति है तो, परम पुरुष परमेश्वरसे ही है, एक विकासक्रम है जो परमसे निकली हुई प्रकृतिके कर्मद्वारा होता रहता है। भग-

वान् कहते हैं, "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।" अर्थात् "प्रत्येक पदार्थका प्रभव (उत्पत्ति, जन्म) मैं हूं और मुझसे ही सब कुछ कर्म और गतिरूप विकासमें प्रवृत्त होता है।" यह बात केवल उतने ही के लिये सही नहीं है जो भला है या जिसकी हम लोग प्रशंसा करते हैं अथवा जिसे हम दिव्य कहते हैं, जो प्रकाशमय है, सात्विक है, धर्मयुक्त है, शांतिप्रद है, आत्माको आनंद देनेवाला है, जो "बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः, अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्" इन शब्दोंसे सूचित होता है। बल्कि इनके विपरीत जो-जो भाव हैं जिनसे मनुष्यका मर्त्य मन मोहित होता और अज्ञान और घबराहटमें जा गिरता है, जैसे "सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः (जन्म और मृत्यु), भयम्, अभयम्, यशः, अयशः," तथा प्रकाश और अंधकारकी और जितनी भी परस्पर-क्रीड़ाएं और उनके जो असंख्य एक दूसरेमें बिंधे हुए ताने-बाने हैं जो इतनी यंत्रणाके साथ कांपते रहते और फिर भी प्राणगत मन और अज्ञानमय आंतरिक क्रियाओंके गोरखधंधेके द्वारा सतत उत्तेजित करते रहते हैं उन सबके विषयमें भी यही एक बात सत्य है कि, "मैं ही सबका प्रभव हूं और सब कुछ मुझसे ही प्रवृत्त होता है।" यहांके सब पदार्थ अपने पृथक्-पृथक् विभिन्न भावों और रूपोंमें एक ही महान् प्रभवमें अपनी विभिन्न सत्ताओंके आंतरिक (अहंपदवाच्य) भूतभाव हैं और उनका जन्म और जीवन उन्हीं परमसे होता है जो उनके परे है। परम पुरुष इन पदार्थोंको जानते और उत्पन्न करते हैं पर नानात्वके इस भेद-ज्ञानमें जालमें मकड़ीकी तरह अपने-आपको फंसा नहीं लेते, अपनी सृष्टिसे आप ही पराभूत नहीं होते। यहां 'भू' धातुसे

(जिसका अर्थ 'होना' है) निकले हुए भवन्ति, भावाः, भूतानि इन तीन शब्दोंका एक साथ एक विशेप आग्रहके साथ आना ध्यान देने योग्य है। भूतानि अर्थात् सब भूत—सब प्राणी और पदार्थ—भगवान्का ही उस रूपमें होना है। भावाः अर्थात् अंतःकरणकी सारी अवस्थाएं और वृत्तियां उन्हींकी है, उन्हींके सारे मानस भाव है। ये भी अर्थात् हमारे अंतःकरणकी निम्न अवस्थाएं तथा उनके प्रकट दीखनेवाले परिणाम "भवन्ति मत्त एव", मुझसे ही उत्पन्न होते है, ऊंचीसे ऊंची आध्यात्मिक अवस्थाएं जिस प्रकार परम पुरुषसे[1] उत्पन्न होती है उसी प्रकार ये भी, उससे किसी परिमाणमें कम नहीं। जो कुछ स्वतःसिद्ध है (अर्थात् आत्मा) और जो कुछ हुआ है (अर्थात् भूत) इन दोनोंमें जो भेद है वह गीता मानती है और उसकी ओर विशेप रूपसे ध्यान दिलाती है पर इन दोनोंमें परस्परविरोध नहीं खड़ा करती। कारण ऐसा करना विश्वके एकत्वको मिटा देना होगा। भगवान् अपनी परा स्थितिमें एक है, पदार्थमात्रको धारण करनेवाले आत्मारूपसे एक है। अपनी विश्वप्रकृतिके एकत्वमें एक है। ये तीनो एक ही भगवान् है; सब कुछ उन्हींसे निकला है, सब कुछ उन्हींकी सत्तासे उत्पन्न होता है, सब कुछ उन्हींका नित्य अंश और अनित्य प्राकट्य है। भगवान्की उस परा स्थितिमें, उस एकमेवाद्वितीय

---

[1]उपनिषद् कहती है, "आत्मा एव अभूत् सर्वभूतानि" अर्थात् आत्मा ही सब भूत (प्राणी और पदार्थ) हुआ है; शब्दयोजनामें एक खूबी, एक विशेप अर्थगौरव है—आत्मा अर्थात् जो स्वतःसिद्ध है वही हुआ है यह सब कुछ जो हुआ है (भूतानि)।

सत्तामें हमें, यदि हमें गीताके पीछे-पीछे चलना है तो, सब पदार्थोंका परम निषेध या बाध नही बल्कि वह चीज ढूंढनी होगी जिसमे उनके अस्तित्वका रहस्य खुल जाय, उनकी सत्ताका वह रहस्य मालूम हो जाय जिससे सबकी संगति बैठे।

परंतु अनंत सत्ताका एक और स्वरूप ऐसा है जिसे जाने और माने विना मुक्तिप्रद ज्ञानके साधनकी पूर्णता नही होती। वह स्वरूप है जगत्के भागवत शासनका—भगवान् अपनी परा स्थितिसे अध्यक्षरूपेण जगत्को ओर देखते हैं और साथ ही सबके अंदर निवास कर अंतर्यामी रूपसे सबको चलाते भी है। परम पुरुष भगवान् स्वयं सारी सृष्टि बनते हैं और फिर भी उसके अनंत परे रहते हैं; वे जगत्के आदि कारण है, ऐसे कारण नहीं जो अपनी सृष्टिके विषयमें संकल्परहित और उससे अलग हों। वे कोई ऐसे संकल्परहित स्रष्टा नही है जो अपनी जागतिक शक्तिके इन परिणामोंकी कोई जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेते हों या जो इन्हे किसी अंध प्रकृतिके यान्त्रिक विधानपर अथवा किसी निम्न कोटिके ईश्वरपर अथवा दैव और आसुर तत्त्वोके संघर्षपर छोडे बैठे हों। वे कोई ऐसे सबसे अलग और लापरवाह साक्षी नही है जो इन सबके मिट जाने या अपने अचल मूल तत्त्वको लौट आनेकी ही केवल प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठे हों। वे सब भुवनों और उनके अधिवासियोंके महाशक्तिशाली परमेश्वर, "लोकमहेश्वर" है और वे ही केवल अंदरसे नहीं बल्कि ऊपरसे, अपने परम पदसे सबका शासन करते है। विश्वका शासन कोई ऐसी शक्ति नही कर सकती जो विश्वके परे न हो। ईश्वरी शासनके होनेका अर्थ ही यह है कि कोई ऐसा सर्वशक्तिमान् शासक

है जिसका स्वामित्व अबाध है, वह शासन (बिना चलानेवालेके) कोई अपने-आप चलनेवाली शक्ति नहीं न विश्वकी बाह्यतः दीखनेवाली प्रकृतिद्वारा मर्यादित सृष्टिका कोई यांत्रिक विधान है। ईश्वरसत्तावादी जगत्में ईश्वरकी ही सत्ता देखते है, जगत्के द्वंद्वोंसे यह ईश्वरवाद भयविकंपित या सशंक नही होता बल्कि यह देखता है कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, वे ही सबके एकमात्र मूल प्रभव है, वे ही यह जो कुछ भी है, अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, प्रकाश-अंधकार यह सब अपनी सत्ताके ही अंश-के रूपमे अपने अंदर व्यक्त करते और जो कुछ व्यक्त करते है उसका स्वयं ही शासन-नियमन करते है। द्वंद्वोंसे अनभिभूत, अपनी सृष्टिसे अबद्ध, प्रकृतिसे अतीत और फिर भी उसके साथ आंतरिक रूपसे संबद्ध और उसके प्राणियोंके साथ आत्यंतिक रूप-से अभिन्न, वे, उनके आत्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, परमेश्वर, प्रेमी, सुहृत्, आश्रय उन्हे उनके अंदरसे और ऊपरसे अज्ञान और दुःख, पाप और प्रमादके इन मर्त्य दृश्योंके भीतरसे ले जा रहे है, हर किसीको हर किसीकी अपनी प्रकृतिके और सभीको विश्व-प्रकृतिके द्वारा ले जा रहे है किसी परा ज्योति, परम आनंद, परम अमृत-त्व और परम पदकी ओर। यही मुक्तिप्रद ज्ञानकी पूर्णता है। यह ज्ञान है उन भगवान्का जो हमारे अंदर हैं और जगत्के अंदर है और साथ ही परम अनंत-स्वरूप है। वे ही एकमात्र निरपेक्ष सत् है जो अपनी भागवती प्रकृति, आत्ममायासे यह सब कुछ हुए है और अपनी परा स्थितिमे रहते हुए इस सबका शासन-नियमन करते हैं। वे प्रत्येक प्राणीके अंदर अंतरात्मरूपसे अव-स्थित है और समस्त विश्व-घटनाओंके कारण, नियंता और चालक

हैं और फिर भी इतने महान्, नक्तिमान् और अनंत हैं कि अपनी सृष्टिसे किसी प्रकार परिच्छिन्न होनेवाले नहीं।

ज्ञानका यह स्वरूप भगवान्‌की प्रतिज्ञाके तीन पृथक् पृथक् श्लोकों द्वारा विशद हुआ है। भगवान् कहते हैं, "जो कोई मुझे अज अनादि और सब लोकों और प्रजाओंका महान् ईश्वर जानता है वह इन मर्त्य लोकोंमें रहता हुआ अविमोहित रहता और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो कोई मेरी इस विभूतिको (सर्व-व्यापक ईश्वरत्वको) और मेरे इस योगको (इस ऐश्वर योगको जिसके द्वारा परम पुरुष परमेश्वर सब भूतोंसे अधिक होनेपर भी सबके साथ एक है और सबमें निवास करते हुए सबको अपनी ही प्रकृतिके प्रादुर्भावके रूपमें अपने अंदर रखते हैं) तत्त्वतः (उसके तत्त्वोंके साथ) जानता है वह अविचलित योगके द्वारा मेरे साथ एकीभूत होता है।.....बुधजन मुझे सबका प्रभव जानते और यह जानते हैं कि हर किसीकी वृत्ति, प्रवृत्ति और गति मुझसे ही है और इस प्रकार मानते हुए मुझे भजते हैं.....और मैं उन्हें वह बुद्धियोग देता हूं जिससे वे मेरे पास आते हैं और मैं उनके लिये उस तमका नाश करता हूं जो अज्ञानसे उत्पन्न होता है।" ये परिणाम निकलते ही हैं उस ज्ञानके स्वभावसे और उस योगके *स्वभावसे जो उस ज्ञानको आध्यात्मिक संवर्द्धन और आध्यात्मिक* अनुभवमें परिणत करता है। कारण मनुष्यकी बुद्धि और कर्मकी सारी परेशानी, उसकी बुद्धिकी सारी लुढक-पुढ़क, सशंकता और क्लेश, उसके मनकी इच्छाशक्ति, उसके हृदयका न्याय-नीतिधर्मकी ओर फिरना, उसके मन, इंद्रियों और प्राणोंके तकाजे, इन सबका मूल उसके सम्मोहमें अर्थात् उसके इंद्रियाच्छादित देहबद्ध अंतः-

करणकी स्वभावसुलभ टटोलनेकी क्रिया और तमसाच्छादित विषय-वेदना और वासनावृत्तिमें मिल सकता है। पर जब वह सब पदार्थोंके भागवत मूलको देखता है, जब वह स्थिर होकर विश्व-दृश्यसे उसके परे जो सत्स्वरूप है उसे देखता है और उस सत्स्वरूपसे इस दृश्यको देखता है तब वह बुद्धि, मन, हृदय और इंद्रियोंके इस सम्मोहसे मुक्त होता है, "असंमूढः स मर्त्येषु"—इस मृत्युलोकके मर्त्य जीवोंके बीच वह शुद्ध बुद्ध मुक्त होकर विचरता है। हर चीजका मूल्य वह अब केवल उसके वर्तमान और प्रातिभासिक रूपसे नहीं बल्कि उसके परम और वास्तविक रूपसे आंकता है और इस तरह वह यहांसे वहांतककी शृंखलाकी छिपी हुई कड़ियां और परस्पर-संबंध ढूंढ़ निकालता है; वह सारे जीवन और कर्मको बोधपूर्वक उनके उच्चतम और असली उद्देश्यके साधनमें लगाता और स्वांतस्थ ईश्वरसे प्राप्त होनेवाले प्रकाश और शक्तिके द्वारा उनका नियमन करता है। इस प्रकार वह मिथ्या बौद्धिक ज्ञान, मिथ्या मानसिक और ऐच्छिक प्रतिक्रिया, मिथ्या इंद्रियगत ग्राहकता और उत्तेजनासे अर्थात् उन सब चीजोंसे जिनसे पाप, प्रमाद और दुःख उत्पन्न होते हैं, मुक्त हो जाता है, सर्वपापैः प्रमुच्यते। कारण इस प्रकार विश्वातीत परम पद और विश्वगत विश्वेशपदमें स्थित होकर वह अपने तथा दूसरे हर किसीके व्यष्टिरूपको असली महत्तर रूपमें देखता और अपनी पार्थक्यजनक और अहंभावापन्न मन-बुद्धिके मिथ्यात्व और अज्ञानसे मुक्त होता है। आध्यात्मिक मुक्तिका यही सदा सारभूत अभिप्राय होता है।

अर्थात् गीतोक्त मुक्त पुरुषका ज्ञान सारभूत और संबंधरहित निर्व्यक्तिक अव्यक्त, क्रियाहीन मौनस्वरूप ब्रह्मज्ञान नहीं है। कारण

मुक्त पुरुषकी बुद्धि, मन और हृदय सतत ही इस भावमें स्थित रहते और यही अनुभव करते हैं कि जगत्‌के स्वामी सर्वत्र अवस्थित हैं और सबको कर्ममें प्रवृत्त और परिचालित कर रहे हैं, भगवान्‌की इस विभूतिको (सर्वव्यापक भगवत्ताको) वह जानता है— "एतां विभूतिं मम यो वेत्ति।" वह यह जानता है कि उसका आत्मा इस अखिल विश्वप्रपंचके परे है, पर वह यह भी जानता है कि ऐश्वर योगसे, "योगं च मम", वह उसके साथ एक है। और वह इन विश्वातीत, विश्वगत और व्यष्टिगत सत्ताओंके हर पहलूको परम सत्यके साथ उसके यथावत् संबंधसे देखता और सबको ऐश्वर योगके एकत्वमें उनके अपने स्थानमें रखता है। वह हर चीजको उसके पृथक् भाव और रूपमें नहीं देखता—वह उस पार्थक्यदृष्टिसे नहीं देखता जिससे सबके परस्परसंबंधका कुछ भी पता नहीं चलता अथवा अनुभव करनेवाली चेतनाको उनके एक ही पहलूका ज्ञान होता है। न वह सब चीजोंको एक साथ गड्डमगड्ड ही देखता है—इस तरहका देखना मिथ्याप्रकाश और अव्यवस्थित कर्मको आमंत्रण देना है। वह परम पदमें सुरक्षित रहता और विश्वप्रकृतिके क्रियाक्लेशोंसे और काल और परिस्थितिकी गड़बडीसे प्रभावित नहीं होता। इन सब पदार्थोंकी सृष्टि और संहारके बीचमें उसका आत्मा सर्वथा अनुद्विग्न रहता और जगत्‌में जो कुछ नित्य और आत्मस्वरूप है उसके साथ अडिग, अकंप और अचल योगमें लगा रहता है। इसके द्वारा वह योगेश्वरके दिव्य अध्यवसायको देखता रहता और प्रशांत विश्वव्यापक भाव तथा सब पदार्थों और प्राणियोंके साथ अपने एकत्व भावसे कर्म करता है। और सब पदार्थोंके साथ इस प्रकार अति-

घनिष्ठ रूपसे संबद्ध होनेसे किसी प्रकार उसके आत्मा और मन भेदोत्पादक निम्नगा प्रकृतिमें नहीं फंसते, कारण आत्मानुभूतिकी उसकी आधारभूमि कोई निकृष्ट प्राकृत रूप और गति नही होती वल्कि वह होती है जो अंतस्थ समग्र और परम आत्म-भाव है। वह भगवान्‌केसे स्वभाव और धर्मको प्राप्त होता है, **मम साधर्म्यमागताः**, विश्वभावसे युक्त होनेपर भी विश्वातीत और मन-प्राण-शरीरके विशेष व्यष्टिरूपमें रहकर भी विश्वभावयुक्त होता है। यह योग जव एक वार सिद्ध हो जाता है तव ऐसे अव्यभिचारी सुस्थिर योगके द्वारा, **अविकम्पेन योगेन,** वह प्रकृति-के किसी भी भावमे तन्निष्ठ हो सकता है, किसी भी मानव अवस्थाको धारण कर सकता है, चाहे जो जगत्कर्म कर सकता है, और यह सव करते हुए वह भगवदीय आत्मस्वरूपके साथ अपने एकत्वभावसे च्युत नहीं होता, सर्वसत्ताधारी परमेश्वरके साथ निरंतर मिलनसे किंचित् भी वियुक्त नही होता।[1]

यह ज्ञान जब हृदय, मन और शरीरकी सारी प्रकृतिपर अपना पूरा प्रभाव डालकर भावमें परिणत होता है तब यही स्थिरा भक्ति और प्रगाढ़ प्रेम बन जाता है उन आदिकारण परम पुरुषके प्रति जो हमारे ऊपर हैं, यहां सर्वत्र सदा सब पदार्थोंके नियंता प्रभुके रूपसे अवस्थित हैं, मनुष्यमें है, प्रकृतिमें हैं। यह ज्ञान प्रथमतः वुद्धिका ज्ञान होता है; पर पीछे हृदयमें भी इसका "भाव" उदित होता है[2]। हृदय और वुद्धिका यह परिवर्तन समस्त

---

[1]सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

[2]वुधा भावसमन्विताः।

प्रकृतिके संपूर्ण परिवर्तनका आरंभ है। एक नया अंतर्जन्म और एक नयी स्मृति हमें अपने भक्ति-प्रेमके परमाराध्यके साथ एकत्वलाभके लिये, मद्भावाय, तैयार करती है। इस भागवत पुरुषको, जो अब संसारमें सर्वत्र और संसारके ऊपर देख पड़ता है, महत्ता और सौंदर्य तथा पूर्णतामें वह प्रीतिको, प्रेमके प्रगाढ आनंदको प्राप्त होता है। वह प्रगाढ आनंद मनके इधर-उधर छितरे हुए बहिर्भूत जीवन-सुखका स्थान स्वयं ग्रहण कर लेता है, बल्कि यह कहिये कि वह परमानंद और सब सुखोंको अपने अंदर खींच लेता और एक विलक्षण रसक्रियाके द्वारा मन-बुद्धि और हृदयके सब भावों और इंद्रियोंके सब व्यापारोंको रूपांतरित कर डालता है। सारी चेतना ईश्वरमय हो जाती और ईश्वरकी प्रति-चेतनासे भर जाती है; सारा जीवनप्रवाह आनंदानुभवके समुद्रमें जा मिलता है। ऐसे भक्तोंके सब भाषण और चिंतन भगवान्‌के ही संबंधमें परस्पर कथन और बोधन होते हैं। उस एक आनंदमें पुरुषका सारा संतोष और प्रकृतिकी सारी क्रीड़ा और सुख केंद्रीभूत है। चिंतन और स्मरणमें वही मिलन क्षण प्रतिक्षण सतत होता रहता है, आत्माके अंदर अपने आत्मैक्यकी अनुभूति निरंतर बनी रहती है। और जिस क्षणसे इस आंतरिक स्थितिका आरंभ होता है उसी क्षणसे, अपूर्णताकी उस अवस्थामें भी, भगवान् पूर्ण बुद्धियोगके द्वारा उसे दृढ करते हैं। हमारे अंदर जो प्रज्वलित ज्ञानदीप है उसे उठाकर वे दिखाते और पृथग्भूत मन और बुद्धिका अज्ञान नष्ट कर मानव आत्माके अंदर स्वयं प्रकट होते हैं। इस प्रकार कर्म और ज्ञानके ज्ञानदीप्त मिलनपर आश्रित बुद्धियोगके द्वारा जीव अधःस्थित त्रस्त मन-बुद्धिकी परंपरासे निकलकर

कर्मकर्त्री प्रकृतिके ऊपर साक्षी चैतन्य अक्षर शांतिको प्राप्त हो चुका। पर अब इस महत्तर बुद्धियोगके द्वारा जिसका आधार भक्ति-प्रेम और समग्र ज्ञान-विज्ञानका ज्ञानदीप्त मिलन है, जीव एक बृहत् महाभावमें डूबकर उन परम पुरुष परमेश्वरको प्राप्त होता है जो एकमेवाद्वितीय हैं, सर्व हैं और सर्वके स्वयं प्रभव हैं। इस प्रकार सनातन पुरुष व्यष्टिपुरुष और व्यष्टिप्रकृतिमें भर जाते हैं; व्यष्टिपुरुष कालके अंदर आवागमनसे निकलकर सनातनके अनंत भावोंको प्राप्त होता है।

८

भगवान्का विभूतिमत्त्व

अब हम लोग एक बड़े महत्त्वके स्थानमें आ गये जहा मुक्त स्थिति और दिव्य कर्मके विषयमें गीताका जो सिद्धात है उसके प्रतिपादनक्रममें हमें उसके पारभौतिक और मानसिक समन्वयका एक सुस्पष्ट निर्देश प्राप्त हो गया। अर्जुनकी बुद्धिमें भगवान् आ गये; बुद्धिकी जिज्ञासा और हृदयकी आखके सामने वे उस परमात्मा और जगदात्माके रूपमें, उस परम पुरुष और विश्व-पुरुषके रूपमें, उस स्वांतस्थ अंतर्यामी भगवान्के रूपमें प्रत्यक्ष हो गये जिसे मनुष्यकी बुद्धि, मन और हृदय अज्ञानके धुधले प्रकाशमें ढूढ़ रहे थे। अब केवल उन नानात्वसे परिपूर्ण विराट् पुरुषका दर्शन ही बाकी है जिससे उसके अनेक पहलुओंमेसे एक और पहलूके दर्शनकी पूर्णता हो।

पारभौतिक समन्वय पूर्ण हो चुका। निम्नगा प्रकृतिसे जीव-को पृथक् करनेके लिये इसमे सांख्यका ग्रहण किया गया है—यह वह पृथक्करण है जो विवेकके द्वारा आत्मज्ञान लाभ कर तथा प्रकृतिके त्रिगुणके बंधनसे अतीत होकर ही करना होता है। सांख्यकी इस प्रकार पूर्णता साबित कर उसकी परिच्छिन्नताको पर पुरुष और परा प्रकृतिके एकत्वका विशाल दर्शन कराकर पार

किया गया है। अहंकारके चतुर्दिक् विनिर्मित प्राकृत पृथग्भूत व्यष्टित्वको मिटानेके लिये वेदान्तियोंका वेदांत स्वीकृत किया गया है। क्षुद्र व्यष्टिभावको विशाल निर्व्यष्टिक भावसे स्थानापन्न करनेके लिये, पृथग्भूतिके भ्रमको ब्रह्मके एकत्वकी अनुभूतिसे नष्ट करने और अहंकारकी अंध दृष्टि के स्थानमें सब पदार्थोंको एकमेव आत्माके अंदर और एकमेव आत्माको सब पदार्थोंके अंदर देखनेकी विमल दृष्टि ले आनेके लिये वेदांतकी प्रक्रियाका प्रयोग किया गया है। इसकी पूर्णता उन परब्रह्मका समग्र दर्शन कराकर साधित की गयी है जिन परब्रह्मसे ही समस्त चर-अचर, क्षर-अक्षर, प्रवृत्ति-निवृत्तिकी उत्पत्ति होती है। इसकी जो संभावित परिच्छिन्नताएं हैं उन्हें, उन परम पुरुष परमेश्वरका, जो समस्त प्रकृतिमें सब कुछ स्वयं होते, स्वयं सब व्यष्टि जीवोंके रूपोंमें अपने-आपको प्रकट करते और समस्त कर्मोंमें अपनी भागवती शक्ति लगाते हैं, अपने अत्यंत समीप होना प्रकट करके पार किया गया है। मन, बुद्धि, हृदय और समस्त अंतःकरणको प्रकृतिके प्रभु परमेश्वरकी सेवामें समर्पित करनेके लिये योगशास्त्रका ग्रहण किया गया है। इसकी पूर्णता जगत् और जीवनके उन परम प्रभुको, जिनका यह प्रकृतिस्थ जीव सनातन अंश है, आदि कर्ता बनाकर साधित की गयी है। और पूर्ण आत्मैक्यके प्रकाशमें जीवका यह देख पाना कि सब पदार्थ भगवद्रूप हैं, इससे योगशास्त्रकी संभावित परिच्छिन्नताओंको पार किया गया है।

फलतः उन परम सत्स्वरूप भगवान्‌के, एक साथ ही, परम सद्रूपमें, विश्वके विश्वातीत मूलके रूपमें, सब पदार्थोंके निर्व्यष्टिक आत्माके रूपमें, विश्वके अचल धारकके रूप में, और सब प्राणियों,

सब व्यष्टियों, सब पदार्थों, शक्तियों और गुणोंके अंतःस्थित ईश्वर-के रूपमें, उस अंतर्यामीके रूपमें जो आत्मा तथा कार्यकर्त्री प्रकृति है और सब भूतोंके अंतर्भव और बहिर्भव है,—एक साथ ही इन सब रूपोंमें—पूर्ण दर्शन होते हैं। उस एकके इस संपूर्ण दर्शन और ज्ञानमें ज्ञानयोगकी पूर्णतया सिद्धि हो गयी। सब कर्मोंका उनके भोक्ता स्वामीके प्रति समर्पण होनेसे कर्मयोगकी पराकाष्ठा हो गयी—क्योंकि अब स्वभावनियुक्त मनुष्य भगवदिच्छाका केवल एक यंत्र रह जाता है। प्रेम और भक्तिका योग पूर्ण विस्तृत रूपमें बता दिया गया। ज्ञान, कर्म और प्रेमकी आत्यंतिक पूर्णता व्यक्तिको उस पदपर पहुंचाती है जहा जीव और जीवेश्वर अपनी उच्चात्युच्च अतिशयतामें परम अभेदको प्राप्त होते हैं। उस अभेदमें स्वरूपज्ञानका प्रकाश हृदयको तथा बुद्धिको भी यथावत् प्रत्यक्ष या अपरोक्ष होता है। उस अभेदमें निमित्तमात्र होकर किया जानेवाला कर्मरूप कृच्छ्र आत्मोत्सर्ग जीते-जागते एकत्वकी आयासरहित स्वच्छंद और आनंदमयी अभिव्यक्ति होता है। इस प्रकार आत्मिक मोक्षका संपूर्ण साधन बता दिया गया; दिव्य कर्मकी पूरी नीव डाल दी गयी।

भगवत्स्वरूप श्रीगुरुसे प्राप्त इस संपूर्ण ज्ञानको अर्जुन ग्रहण करता है। उसका मन सब संशयोंसे ऊपर उठ चुका है; उस-का हृदय जगत्के बाह्य रूप और उसके मोहक-भ्रामक दृश्यसे हटकर अपने परम अर्थ और मूल स्वरूप तथा उसकी अंतस्थ वास्तविकताओंको प्राप्त हो चुका है, शोक-संतापसे छूटकर भगव-दीय दर्शनके अनिर्वचनीय आनदसे संपृक्त हो चुका है। इस ज्ञानको ग्रहण करते हुए वह जिन शब्दोंका प्रयोग करता है उनसे

फिर एक बार विशेष बल और आग्रहके साथ यह बात सामने आती है कि यह ज्ञान वह ज्ञान है जो संपूर्ण है, सब कुछ इसमें आ गया है, कोई बात बाकी नहीं है। अर्जुन सर्वप्रथम उन्हें, जो उसे यह ज्ञान दान कर रहे हैं, अवतार मानता है अर्थात् मनुष्य-तनमे परब्रह्म परमेश्वर-रूप से उन्हें ग्रहण करता है, उन्हें वह "परं ब्रह्म", "परं धाम" मानता है जिसके अंदर जीव, इस बाह्य जगत् और इस अंशरूप भूतभावसे निकलकर अपने मूल स्वरूपको प्राप्त होनेपर, रह सकता है। अर्जुन उन्हे वह "परमं पवित्रम्" जानता है जो मुक्त स्थितिकी परमा पवित्रता है—वह परम पावन स्थिति जीवको तब प्राप्त होती है जब वह अपने अहंकारको मिटाकर अपने आत्मस्वरूपकी स्थिर अचल अक्षर निर्व्यष्टिक ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचता है। अर्जुन फिर उन्हें "पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्" एकमेव सत् सनातन दिव्य पुरुष जानकर ग्रहण करता है। वह उन्हें "आदि देव" कहकर उनकी स्तुति करता है और सर्वव्यापक सर्वांतर्यामी अविनाशी परमात्मा "आदिदेवमजं विभुम्" रूपसे उनकी पूजा करता है। अतएव वह उन्हें केवल वह 'अद्भुत' ही नहीं मानता जो किसी भी प्रकारके वर्णनसे परे है, क्योंकि कोई भी वस्तु उन्हें व्यक्त करनेके लिये पर्याप्त नहीं है,—"हे भगवन्, आपकी अभिव्यक्तिको न तो देवता जानते हे न ही दानव", न हि ते भगवन् व्यक्ति विदुर्देवा न दानवाः,—बल्कि वह उन्हें सर्वभूतोंका स्वामी, उनकी समस्त संभूतिका एकमात्र दिव्य निमित्त कारण, देवोंका देव जिससे सब देवता उदभूत हुए है, तथा जगत्का पति भी मानता है जो ऊपरसे अपनी परमोच्च तथा विश्वव्यापी प्रकृतिकी शक्तिके द्वारा उसे अभिव्यक्त तथा परि-

चालित करता है, भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते। अंतमें वह उन्हें हमारे अंदर तथा चारों ओर अवस्थित उस वासुदेवके रूपमें ग्रहण करता है जो यहां सभी कुछ है अपनी संभूतिकी विश्व-व्यापी, घट-घटवासी, सर्व-निर्मायक विभु-शक्तियोंके बलपर, विभूतयः, "संभूतिकी सर्वोच्च शक्तियां जिनके द्वारा आप इन लोकोंको व्याप्त किये हुए हैं", याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।[1]

उसने अपने हृदयकी भक्ति, इच्छा-शक्तिके समर्पण तथा बुद्धिकी समझके साथ इस सत्यको ग्रहण कर लिया है। वह इस ज्ञानमें रहते हुए तथा इस आत्म-समर्पणके साथ दिव्य यंत्रके रूपमें कार्य करनेके लिये तैयार हो चुका है। पर अब एक गंभीरतर अविच्छिन्न आध्यात्मिक उपलब्धिकी स्पृहा उसके हृदय तथा उसकी संकल्पशक्तिमें जाग उठी है। यह एक ऐसा सत्य है जो केवल परम आत्माको ही अपने आत्म-ज्ञानमें प्रत्यक्ष होता है,—क्योंकि अर्जुन कहता है, "हे पुरुषोत्तम, केवल आप ही अपने-आपको अपने-आपसे जानते हैं," आत्मानमात्मना वेत्थ। यह एक ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक तादात्म्यद्वारा प्राप्त होता है और प्राकृत मनुष्यका हृदय, संकल्प-शक्ति तथा बुद्धि बिना सहायताके, अपनी ही चेष्टाके द्वारा इसतक नही पहुंच सकते। वे तो केवल उन अपूर्ण मानसिक प्रतिबिंबोंको ही प्राप्त कर सकते है जो इसे प्रकाशित करनेसे कही अधिक छिपाते तथा विकृत ही करते है। यह एक गुप्त ज्ञान है जो मनुष्यको उन ऋषियोंसे सुनना होगा

---

[1]गीता १०, १२-१५।

जिन्होने इस सत्यका साक्षात्कार किया है, इसकी वाणीको श्रवण किया है और अंतरात्मा तथा आत्मामें इसके साथ एकात्मता प्राप्त की है। "सभी ऋषि और नारद, असित, देवल, व्यास आदि देवर्षि आपके विषयमें यही कहते है।" अथवा मनुष्यको इसे अपने अंदरसे दिव्य दर्शन एवं अंत.स्फुरणाके द्वारा उन अंतर्यामी देवसे प्राप्त करना होगा जो हमारे अंदर ज्ञानके उज्ज्वल दीपको ऊपर उठाते है। "और आप स्वयं भी मुझे यही बताते है"—स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे। जब एक बार यह सत्य प्रकट हो जाय तब इसे मनकी स्वीकृति, संकल्पशक्तिकी सहमति तथा हृदयके आनंद और समर्पणपूर्ण मानसिक श्रद्धाके इन तीनों तत्त्वोंके द्वारा स्वीकार करना होता है। अर्जुनने इसे इसी प्रकार अगीकार किया है; "इस सबको, जो आपने कहा है, मेरा मन सत्य मानता है।" परंतु फिर भी हमारी सत्ताकी वास्तविक आत्मामें तथा उसके अत्यंत अंतरंग चैत्य केंद्रसे बाहर उस गभीरतर अधिकृतिकी आवश्यकता, उस नित्य अवर्णनीय आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये हमारी अंतरात्माकी माग तो बनी ही रहेगी जिसका मानसिक उपलब्धि एक प्रारंभ या छायामात्र है और जिसके बिना सनातनके साथ पूर्ण मिलन नही प्राप्त हो सकता।

सुतरां, उस उपलब्धितक पहुंचनेका मार्ग अर्जुनको अब बता दिया गया है। और जहातक महान् स्वतः-प्रत्यक्ष दिव्य तत्त्वोंका संबंध है, वे व्यक्तिके मनको चक्करमे नही डालते। वह परम देवाधिदेवसंबंधी विचार, अक्षर आत्माके अनुभव, अंतर्यामी ईश्वरके प्रत्यक्ष बोध तथा चेतन विश्व-पुरुषके संस्पर्शकी ओर खुल सकता है। देवाधिदेव-विषयक विचारसे एक बार मनके आलोकित होते

हाँ, मनुष्य शीघ्रताके साथ मार्गका अनुसरण कर सकता है और सामान्य मानसिक बोधोंको अतिक्रांत करनेके लिये चाहे कोई भी प्रारंभिक कठिन प्रयत्न क्यों न करना पड़े, फिर भी अंतमें वह इन मूल सत्योंका, जो हमारी सत्ता तथा समस्त सत्ताके पीछे अव-स्थित हैं, स्वानुभव प्राप्त कर सकता है, आत्मना आत्मानम्। वह इसे इस शीघ्रताके साथ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि ये, एक बार विचारमें आ जानेपर, प्रत्यक्ष ही दिव्य सत्य होते हैं; हमारे मान-सिक संस्कारोंमें ऐसी कोई चीज नहीं जो ईश्वरको इन उच्च रूपों-में स्वीकार करनेसे हमें रोकती हो। पर कठिनाई तो जीवनके प्रतीयमान सत्योंमें उसे देखनें, प्रकृतिके इस तथ्यमें तथा जगद्-अभिव्यक्तिके इस प्रच्छन्नकारी दृश्य प्रपंचमें उसे ढूढ़ निकालनेमें पैदा होती है ; क्योंकि यहां सब कुछ इस एकीकारक विचारकी उच्चताके विपरीत है। भगवान्‌को मनुष्य, जीव-जंतु तथा जड पदार्थके रूपमें, उच्च और नीच, सौम्य और रौद्र तथा शुभ और अशुभमें देखनेके लिये हम कैसे सहमत हो सकते हैं? जगत्‌के पदार्थोंमें व्याप्त ईश्वरसे संबंध रखनेवाले किसी विचारको स्वीकार करके यदि हम ज्ञानकी आदर्श ज्योति, शक्तिकी महानता, सौंदर्य-की मोहक छटा, प्रेमकी उदारता तथा आत्माकी विपुल विशालतामें उसे देख भी ले, तो भी इनके उन विरोधी गुणोंके द्वारा, जो सचमुच ही इन उच्च वस्तुओंके साथ चिपके रहते हैं तथा इन्हे आच्छन्न और धूमिल कर देते है, एकताके भंग होनेकी बातसे हम कैसे बचेंगे? और यदि मानव मन तथा प्रकृतिकी सीमाओंके होते हुए भी हम देव-मानवमें ईश्वरको देख सके, तो भी हम उन लोगों-में उन्हें कैसे देखेंगे जो उनका विरोध करते है तथा कर्म और

प्रकृतिमे उन सब चीजोंको ही प्रकट करते है जिन्हे हम अदिव्य समझते है ? यदि नारायण ज्ञानी और संतमें विना कठिनाईके दीख जाते है तो पापी, अपराधी, वेश्या तथा चांडालमें वे हमे सुगमतासे कैसे दिखाई देंगे ? सर्वत्र परम पवित्रता तथा एकताकी खोज करता हुआ ज्ञानी विश्व-सत्ताके सभी विभेदोंके प्रति "यह नही, यह नही," नेति नेति, की कठोर पुकार उठाता है। यद्यपि हम इस संसारमे वहुत-सी वस्तुओको इच्छा या अनिच्छापूर्वक स्वीकृति देते है तथा जगत्मे भगवान्को स्वीकार करते है तथापि क्या अधिकतर वस्तुओंके सामने मनको "यह नहीं, यह नही" की उस पुकारमें ही नही डटे रहना होगा ? यहां निरंतर ही बुद्धिकी स्वीकृति, संकल्पशक्तिकी सहमति और हृदयकी श्रद्धा दृग्विषय और वाह्य रूपपर ही सदा लंगर डाले हुए मानव-मनके लिये कठिन हो जाती है। एकत्वकी प्राप्तिके कठिन प्रयासके लिये कम-से-कम कुछ प्रवल सकेतों, कुछ शृंखलाओं और सेतुओं, कुछ अवलंबोंकी आवश्यकता पड़ती ही है।

यद्यपि अर्जुन 'सर्व' के रूपमें वासुदेवके प्राकट्यको स्वीकार करता है और यद्यपि उसका हृदय इसके आनंदसे परिपूर्ण है,—क्योकि वह पहलेसे ही अनुभव कर रहा है कि यह उसे विरोधमय जगत्की चकरानेवाली समस्याओके बीच किसी सूत्र किंवा मार्ग-दर्शक सत्यके लिये पुकार करनेवाले उसके मनकी व्याकुलता और स्खलनकारी विभेदोसे मुक्त कर रहा है, और यह उसके श्रोत्रके लिये अमृतरस, अमृतम्, है,—फिर भी वह ऐसे अवलंवो और संकेतोको प्राप्त करनेकी आवश्यकता अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि पूर्ण तथा दृढ उपलब्धिकी कठिनाईको दूर

करनेके लिये ये अनिवार्य हैं ; नहीं तो, भला और किस प्रकारसे इस ज्ञानको हृदय तथा जीवनकी वस्तु बनाया जा सकता है? वह मार्गदर्शक संकेत चाहता है, यहांतक कि वह श्रीकृष्णसे अपनी संभूतिकी सर्वोच्च शक्तियोंको पूर्ण रूपसे तथा विस्तारके साथ गिनानेके लिये प्रार्थना करता है और चाहता है कि उसकी दृष्टिसे कुछ भी छूटने न पाये, उसे चकरानेवाली कोई भी चीज शेष न रहे। वह कहता है, "संभूतिकी अपनी सर्वोच्च शक्तिमें अपनी सब दिव्य आत्मविभूतियां, दिव्या आत्मविभूतयः, आप मुझे बिना अपवाद के,—अशेषेण, निःशेष रूपसे—बताइये, अपनी वे विभूतियां जिनके द्वारा आप इन लोकों और प्रजाओंको व्याप्त किये हुए हैं। हे योगिन्, हर क्षण और हर जगह आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे जानूं और किन-किन प्रमुख संभूतियोंमें मैं आपका चिंतन करूं?" वह पुकारकर कहता है कि इस योग-के विषयमें जिसके द्वारा आप सबके साथ एक हैं और सबके अंदर अवस्थित 'एक' हैं और सब आपकी सत्ताके भूतभाव हैं, सब आप-की प्रकृतिकी व्यापक या प्रमुख या प्रच्छन्न शक्तियां हैं, आप मुझे पूरे ब्योरे और विस्तारके साथ बताइये और सदा अधिकाधिक बताइये ; यह मेरे लिये अमृत-रस है, और जितना ही अधिक मैं इसके बारेमें सुनता हूं, मेरी तृप्ति नहीं होती। यहां हम गीतामें एक ऐसी चीजका संकेत पाते हैं जिसे स्वयं गीता भी स्पष्ट रूपमें प्रकट नहीं करती, परंतु जो उपनिषदोंमें बार-बार आती है और जिसे आगे चलकर वैष्णव तथा शाक्त धर्मोंने, दिव्य दर्शनकी मह-त्तर तीव्रतामें विकसित किया था, और वह है जगत्‌में रहनेवाले भगवान्‌में मनुष्यको आनंद प्राप्त होनेकी संभावना, सार्वभौम

आनंद, जगज्जननीकी क्रीड़ा एवं ईश्वरकी लीलाका माधुर्य और सौंदर्य।[1]

भगवान गुरु शिष्य की प्रार्थनाको स्वीकार कर लेते है, किंतु शुरूमे ही स्मरण करा देते हैं कि पूर्ण उत्तर देना संभव नहीं। क्योंकि ईश्वर अनत है और उनकी अभिव्यक्ति भी अनंत है। उनकी अभिव्यक्तिके रूप भी असंख्य है। प्रत्येक रूप अपने अंदर छिपी हुई किसी दिव्य शक्ति, **विभूति**, का प्रतीक है और देख सकनेवाली आंखके लिये प्रत्येक 'सांत' अपने-अपने ढंगसे अनतको प्रकट कर रहा है। वे कहते हैं, हां, मै तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियोके बारेमें बतलाऊंगा; पर केवल अपनी कुछ मुख्य-मुख्य उत्कृष्टताओके विषयमें तथा निर्देशके रूपमें और उन वस्तुओके उदाहरणके द्वारा जिनमें तुम देवाधिदेवकी शक्तिको अनायास ही देख सकते हो, **प्राधान्यतः, उद्देशतः**। कारण, जगत्में ईश्वरके आत्म-विस्तारके असंख्य ब्योरोका कोई अंत ही नही है, **नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे**। इस बातको स्मरण कराकर ही गुरु यह प्रकरण आरंभ करते है और इसपर और भी अधिक तथा असदिग्ध बल देनेके लिये अतमें इसे पुन. दुहराया गया है। और फिर शेष सारे अध्यायमें[2] हम जगत्के पदार्थो तथा प्राणियोंमे विद्यमान दिव्य शक्तिके इन मुख्य निर्देशो, इन उत्कृष्ट संकेतोंका संक्षिप्त वर्णन पाते है। ऐसा मालूम होता है मानो ये बिना किसी क्रमके ही अस्त-व्यस्त रूपमे दे दिये गये हों, परंतु फिर

[1] १०, १६-१८।
[2] १०, १९-४२।

भी इनके परिगणनमें एक विशेष नियम-क्रम है जो, यदि एक बार हमारे सामने प्रकट हो जाय तो, हमें एक सहायक पथप्रदर्शनके द्वारा इस विचार तथा इसके परिणामोंके आंतरिक आशयकी ओर ले जा सकता है। इस अध्यायको 'विभूति-योग'का नाम दिया गया है, जो एक परमावश्यक योग है। कारण, जहां हमें विश्व-व्यापी दिव्य 'संभूति'के साथ उसके संपूर्ण विस्तारमें, उसके शुभ और अशुभ, पूर्णता और अपूर्णता, प्रकाश और अंधकारमें समभाव-से अपने-आपको एकाकार करना होगा, वहां हमें साथ-ही-साथ यह भी अनुभव करना होगा कि इसके अंदर एक आरोहणशील विकासात्मक शक्ति है, वस्तुओंमें होनेवाले इसके प्राकट्यका एक बढ़ता हुआ उत्कर्ष है, कोई क्रमपरंपरात्मक रहस्यमय वस्तु है जो हमें प्रारंभिक आवरणकारी प्रतीतियोंमें, उत्तरोत्तर उच्चतर रूपोंमेंसे गुजारती हुई, विश्वव्यापी देवाधिदेवकी व्यापक आदर्श प्रकृतिकी ओर ऊपर उठा ले जाती है।

यह संक्षिप्त परिगणन उस मूल सिद्धांतके प्रतिपादनसे आरंभ होता है जो विश्वमें होनेवाली इस अभिव्यक्तिकी समस्त शक्तिके मूलमें निहित है। वह यह है कि प्रत्येक जीव और पदार्थमें ईश्वर गुप्त रूपसे निवास करते है और वे उसके अंदर खोजे जा सकते है, प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणीके मन और हृदयमें वे ऐसे बसे हुए हैं जैसे एक गुहामें, उसकी आतर और बाह्य व्यक्त सत्ताके अंतस्तलमे वे अंत.स्थ आत्मा है, जो कुछ भी है, हो चुका है या होगा उस सबके वे आदि, मध्य और अंत है। यह अंतर्यामी दिव्य आत्मा ही, जो जिस मन और हृदयमें बसा है उससे छिपा हुआ है, यह प्रकाशमान अंतर्वासी ही जो उस प्रकृतिगत अंतरात्माकी

दृष्टिसे ओझल है जिसे उसने अपने प्रतिनिधिके रूपमें प्रकृतिके अंदर प्रकट किया है, हमारे कालगत व्यक्तित्व तथा हमारी देश-गत संवेदनात्मक सत्ताके क्षरभावोंको सब समय विकसित कर रहा है,—देश और काल हमारे अंतःस्थ ईश्वरकी चिंतनगत गति और विस्तार है। सब कुछ यह अपने-आपको देखनेवाला आत्मा तथा अपने-आपको प्रकट करनेवाली अध्यात्मसत्ता ही है। सदा ही सब जीवोंके अंदरसे, सब चेतन और अचेतन भूतोंके अंदरसे ये सर्व-चेतन अपनी व्यक्त आत्माको गुण और शक्तिमें विकसित करते हैं, पदार्थोंके रूपोंमें, हमारी आंतर सत्ताके करणोंमें, ज्ञान, शब्द और चिंतनमें, मनकी वृत्तियों तथा कर्त्ताके रागावेश और कार्य-कलापमें, कालके मानमें, वैश्व शक्तियों एवं देवताओंमें तथा प्रकृतिकी शक्तियोंमें, उद्भिज-जीवनमें, पशु-जीवनमें, मानव और अतिमानव जीवोंमें ये उसे विकसित करते हैं।

यदि हम गुण और मात्राके विभेदोंसे या मूल्योंके भेद तथा प्रकृतिके विरोधोंसे अंध न होनेवाली इस अंतर्दर्शनकी आंखसे वस्तुओंपर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि सभी वस्तुएं वास्तवमें इस अभिव्यक्तिकी शक्तियां हैं, इस विश्वव्यापी आत्मा तथा अध्यात्म-सत्ताकी विभूतियां हैं, इस महान् योगीका योग, इस अद्भुत आत्म-स्रष्टाकी आत्म-सृष्टि है और इसके सिवा वे और कुछ हो ही नहीं सकतीं। वे इस विश्वमें अपने अगणित भूतभावोंके अज तथा सर्वव्यापक स्वामी हैं, अजो विभुः; सभी पदार्थ उनकी आत्म-प्रकृतिमें उनकी शक्तियां तथा उनके संसिद्ध रूप, विभूतियां, हैं। वे जो कुछ है उस सबका वे उद्गम हैं, उनका आदि हैं; उनकी नित्य-परिवर्तनशील अवस्थामें वे उनका आधार, उनका

मध्य हैं; वे ही उनका अंत भी हैं, प्रत्येक सृष्ट वस्तुकी समाप्ति या विलयकी अवस्थामें वे ही उसका पर्यवसान या विघटन हैं। वे उन्हें अपनी चेतनामेंसे बाहर निकालते हैं और उनमें गुप्त रूपसे अवस्थित रहते हैं, वे उन्हें अपनी चेतनामें वापिस खींच लेते हैं जो फिर उनके अंदर कुछ समय या सदाके लिये अंतर्लीन रहते हैं। जो कुछ भी हमें दिखायी देता है वह एकमेवकी विभूतिमात्र है: जो कुछ हमारे इंद्रियबोध और हमारी दृष्टिसे अगोचर हो जाता है वह एकमेवकी उस विभूतिके परिणामस्वरूप ही अगोचर होता है। सभी श्रेणियां, जातियां, उपजातियां तथा व्यष्टि ऐसी ही विभूतियां हैं। परंतु अपनी संभूतिमें विद्यमान शक्तिके द्वारा ही दृष्टि-गोचर होनेके कारण वे हमें उस चीजमें विशेष रूपसे दिखायी देते हैं जो उत्कृष्ट मूल्य-महत्त्व रखती है या जो प्रबल तथा श्रेष्ठ शक्तिके साथ कार्य करती प्रतीत होती है। अतएव प्रत्येक प्रकारकी सत्तामें हम उन्हें उन्हींके अंदर अधिक-से-अधिक देख सकते हैं जिनमें उस प्रकारकी प्रकृतिकी शक्ति सर्वोच्च, प्रमुख तथा अत्यंत प्रभावशाली रूपमें आत्म-प्राकट्य करनेवाली निज अभिव्यक्तिको प्राप्त करती है। वे एक विशेष अर्थमें विभूतियां होती हैं। परंतु उच्चतम शक्ति और अभिव्यक्ति भी अनंतका केवल एक अत्यंत आंशिक प्रकाश होती है; यहांतक कि यह संपूर्ण विश्व भी उनकी महिमाके केवल एक ही अंशसे अनुप्राणित हो रहा है, उनकी ज्योतिकी एक ही रश्मिसे प्रकाशमान है, उनके आनंद और सौंदर्यकी एक हलकी-सी झलकसे ही महिमान्वित हो रहा है। यही, संक्षेपमें, इस परिगणनका सार तथा इससे निकलनेवाला परिणाम है और यही इसके अर्थका मर्म है।

ईश्वर अक्षय, अनादि अनंत काल है; यह उनकी संभूति-की अत्यंत प्रत्यक्ष शक्ति है और संपूर्ण वैश्व गतिका मूलतत्त्व है। अहमेव अक्षयः कालः। काल और संभूतिकी उस गतिमें ईश्वर स्वविषयक हमारे विचार या अनुभवके प्रति, अपने कार्यों-की साक्षीके द्वारा एक ऐसी दिव्य शक्ति प्रतीत होते हैं जो सब वस्तुओंको व्यवस्थित करती तथा गतिके अंदर अपने-अपने स्थान-पर स्थापित करती है। वही अपने देशात्मक रूपमें सब ओर हमारे सामने उपस्थित होते हैं, लाखों शरीरोंवाले, असंख्य मनों-वाले, प्रत्येक सत्तामें प्रकट; सब तरफ हम उन्हींके चेहरोंको देखते हैं। धाताहं विश्वतोमुखः। कारण, उनके आत्मा, विचार एवं शक्तिका, सर्जनकी दिव्य प्रतिभा, रचनाकी अद्‌भुत कला और संबंधों, संभावनाओं तथा अनिवार्य परिणामोंकी निर्भ्रांत व्यवस्थाका रहस्य एक साथ इन सब लाखों प्राणियों और पदार्थोंमें, सर्वभूतेषु, कार्य करता है। इस संसारमें वे हमें संहार करनेवाला विश्व-व्यापी आत्मा भी दिखायी देते हैं, जो अपनी रचनाओंको अंतमें नष्ट करनेके लिये ही बनाते प्रतीत होते हैं:—"मैं सर्वसंहारक मृत्यु हूं", अहं मृत्युः सर्वहरः। फिर भी उनकी संभूतिकी शक्ति अपना व्यापार बंद नहीं करती, क्योंकि पुनर्जन्म एवं नवसर्जनकी शक्ति सदा ही मृत्यु और संहारकी शक्तिके साथ कदम मिलाकर चलती है,—"और, जो कुछ उत्पन्न होगा उस सबका उद्भव भी मैं ही हूं।" वस्तुओंमें विद्यमान दिव्य आत्मा वर्तमानका धारण करनेवाला, भूतका प्रतिहरण करनेवाला तथा भविष्यत्‌का सर्जन करनेवाला आत्मा है।

फिर, इन सब जीवित प्राणियों, वैश्व देवताओं, अतिमानव,

मानव और अवमानव प्राणियोंमें, तथा इन सब गुणों, शक्तियों और पदार्थोंमें जो प्रत्येक श्रेणीके गुणमें प्रधान, उच्च और सबसे महान् है वह देवाधिदेवकी एक विशेष विभूति है। ईश्वर कहते हैं कि मैं आदित्योंमें विष्णु, रुद्रोंमें शिव, देवताओंमें इंद्र और असुरोंमें प्रह्लाद हूं, संसारके महान् पुरोहितोंका प्रमुख बृहस्पति, सेनानियोंका सेनानी युद्ध-देवता स्कंद हूं, मरुतोंमें मरीचि, यक्षों और राक्षसोंमें कुबेर, नागोंमें अनंतनाग, वसुओंमें अग्नि, गंधर्वोंमें चित्ररथ, संतानोत्पादकोंमें प्रेम-देवता कंदर्प, समुद्री जल-जंतुओंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा, देवर्षियोंमें नारद, नियमविधानकी रक्षा करनेवालोंमें नियमका अधिपति यम, आंधी-तूफानकी शक्तियोंमें पवन देवता हूं। इस शृंखलाके दूसरे छोरपर मैं प्रभाओं और ज्योतियोंमें जाज्वल्यमान सूर्य, रात्रिके नक्षत्रोंमें चंद्रमा, सरोंमें सागर, संसारके शिखरोंमें मेरु, पर्वत-शृंखलाओंमें हिमालय, नदियोंमें गंगा, आयुधोंमें दिव्य वज्र हूं। सब पेड़-पौधोंमें मैं अश्वत्थ हूं, अश्वोंमें इंद्रका अश्व उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत, पक्षियोंमें गरुड़, सर्पोंमें सर्प-देवता वासुकि, धेनुओंमें कामधुक्, मत्स्योंमें मगर-मच्छ, वन्य पशुओंमें सिंह हूं, मासोंमें मैं प्रथम मास मार्गशीर्ष हूं; ऋतुओंमें सर्वसुंदर वसंत ऋतु हूं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि जीवोंमें मैं चेतना हूं जिसके द्वारा वे अपने-आप तथा अपने परिपार्श्वको जानते हैं। इंद्रियोंमें मैं मन हूं, मनके द्वारा ही वे पदार्थोंके प्रभावोंको ग्रहण करती हैं तथा उनपर प्रतिक्रिया करती हैं। मैं उनके मन, चरित्र, शरीर और कर्मके गुण हूं, मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा हूं, तेजस्वियोंका तेज और बलवानोंका बल हूं। मैं निश्चय,

अध्यवसाय और जय हूं, सज्जनोंका सत्त्वगुण हूं, छलियोंका द्यूत हूं; जो शासन, दमन और पराभव करते हैं उन सबकी प्रभुता और दंड-शक्ति मैं हूं और जो सफलता तथा विजय लाभ करते हैं उन सबकी नीति भी मैं हूं; मैं गुह्योंका मौन हूं, ज्ञानियोंका ज्ञान तथा विवादकर्ताओंका तर्क हूं। मैं अक्षरोंमें अकार, समासोंमे द्वंद्व, शब्दोमे पवित्र पद ओंकार, छंदोंमें गायत्री, वेदोमे सामवेद, मंत्रोंमें बृहत् साम हूं। जो गणना और आकलन करते हैं उनके लिये मैं समस्त गणनाका अग्रणी काल हूं, नाना दर्शनों, कलाओं और विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या हूं। मै मनुष्यका समस्त शक्ति-सामर्थ्य हूं और विश्व तथा उसके प्राणियोंकी समस्त शक्तियां हूं।

जिन लोगोंमें मेरी शक्तियां मानव-उपलब्धिके उच्चतम शिखरोंको पहुंच जाती है वे सदा स्वयं मेरा ही रूप, मेरी विशेष विभूतियां होते हैं। मैं मनुष्योंमें राजा, नेता, शक्तिशाली पुरुष किंवा वीर हूं। मैं योद्धाओंमें राम, वृष्णियोमें कृष्ण, पांडवोंमें अर्जुन हूं। ज्ञानी ऋषि मेरी ही विभूति होता है; महर्षियोंमें मै भृगु हूं। जो महान् ऋषि या अंतःप्रेरित कवि सत्यको देखता है तथा विचारकी ज्योति और शब्दकी ध्वनिके द्वारा उसे व्यक्त करता है वह मर्त्य-देहमें प्रकाशमान स्वयं मै ही होता हूं; द्रष्टा कवियोंमें मैं उशना हूं। एक महान् मुनि, विचारक या दार्शनिक मनुष्योंमें मेरी ही शक्ति, मेरी विशाल प्रज्ञा होता है; मैं मुनियोंमें व्यास हूं। परंतु, अभिव्यक्तिमें मात्राका भेद चाहे कितना ही क्यों न हो, सब भूत अपने निजी ढंगसे और अपनी निजी प्रकृतिमें ईश्वरकी ही शक्तियां है; इस संसारमें कोई भी चर-अचर

या जड़-चेतन मुझसे रहित नही हो सकता। मै सभी भूतोका दिव्य बीज हूं, और वे उस बीजकी शाखाएं और पुष्प है; जो कुछ आत्मा-रूपी बीजमें है उसीको वे प्रकृतिमे विकसित कर सकते हैं। मेरी दिव्य विभूतियोंकी कोई गणना या सीमा नही है, जो कुछ मैंने कहा है वह एक संक्षिप्त निरूपणसे अधिक कुछ नही और मैंने केवल कुछ प्रमुख सकेतोपर ही प्रकाश डाला है और अनंत सत्यताओंकी ओर एक दृढ़ मार्ग खोल दिया है। संसारमें जो कोई भी सुंदर और विभूतिशाली प्राणी तुम देखते हो, मनुष्यों-में तथा मनुष्यसे ऊपर और उससे नीचे जो कोई भी शक्तिशाली और ऊर्जस्वी सत्ता है उसे तुम मेरा ही तेज, ज्योति और शक्ति समझो, मेरी ही सत्ताके तेजस्वी अंश और प्रखर शक्तिसे उत्पन्न जानो। परंतु इस ज्ञानके लिये अनेक ब्योरोंकी आवश्यकता ही क्या है? इसे यों समझो कि मै यहां इस संसारमें हूं और सब जगह हूं, मै सबमें हूं, और सब कुछ हूं: मेरे सिवा और कुछ भी नही है, मेरे बिना किसी भी चीजका अस्तित्व नही है। इस संपूर्ण ब्रह्माण्डको मै अपनी असीम शक्तिकी एक ही कला तथा अपने अगाध आत्माके एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशसे ही धारण करता हूं; ये सब भुवन उस नित्य अपरिमेय 'मै हूं' 'अहमस्मि'के स्फुलिंग, संकेत और रश्मियां मात्र है।

९

विभूतिका सिद्धांत

गीताका दशम अध्याय प्रथम दृष्टिमें जैसा प्रतीत होता है उसकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो मतवाद इह-जीवनसे चरम मुक्ति चाहता है और मानव आत्माको जगत्से विमुख कर, इसके सब संबंधोंसे विरक्त कर सुदूर, कूटस्थ, निरपेक्ष सत्ताकी ओर ले जाना चाहता है, उस मतवादको ढूंढ़ निकालनेके लिये ही पक्षपातयुक्त दृष्टिसे गीताके मूल वचनोंका अनुशीलन करनेपर इस अध्यायका यथार्थ महत्त्व समझमें नहीं आ सकता। गीताका संदेश यह है कि भगवान् मनुष्यके अंदर निवास करते हैं और वे बढ़ते हुए मिलनकी शक्तिके द्वारा अपने-आपको निम्नतर प्रकृतिके पर्देसे बाहर प्रकट करते हैं, मानव आत्माके सम्मुख अपने विश्वव्यापी आत्माको प्रकाशित करते हैं, अपनी निरपेक्ष परात्पर-ताओंको प्रकट करते हैं, अपने-आपको मनुष्यमें तथा सर्व भूतोंमें प्रकाशित करते हैं। यह जो मिलन एवं दिव्य योग है, यह जो मनुष्यका ईश्वरकी ओर विकसित होना और ईश्वरका मानव आत्माके अंदर तथा मानवीय अंतर्दृष्टिके सम्मुख प्रकट होना है, इसके फलस्वरूप ही हम यहां सीमित अहंसे मुक्त होकर दिव्य मानवताकी उच्चतर प्रकृतिकी ओर ऊपर उठ सकते हैं। कारण,

तीन गुणोंके मर्त्य ताने-बाने या उनकी उलझी हुई जटिलतामें नहीं बल्कि इस महत्तर आध्यात्मिक प्रकृतिमें निवास करते हुए मनुष्य, ज्ञान, प्रेम और संकल्प, तथा भगवान्‌के प्रति अपनी संपूर्ण सत्ताके आत्म-दानके द्वारा उनके साथ एक होकर, निःसंदेह, निरपेक्ष परात्परताकी ओर उठनेमें और साथ ही जगत्‌पर कार्य करनेमें भी समर्थ होता है, पहलेकी तरह अज्ञानमें नहीं वरन् परम देवके साथ व्यक्तिके यथार्थ संबंधमें, आत्माके सत्यमें, अमरत्वमें कृतार्थ होकर, अब और अहंके लिये नहीं बल्कि विश्वगत ईश्वरके लिये कार्य करनेके योग्य बन जाता है। अर्जुनका इस कार्यके लिये आह्वान करना, जो सत्ता और शक्ति वह है उसमें तथा जिस परम सत्ता और शक्तिका संकल्प उसके द्वारा कार्य करना है उससे उसे सचेतन करना ही देहधारी भगवान्‌का प्रयोजन है। इस उद्देश्यके लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि है, इस उद्देश्यके लिये ही उसे महान् विषादने तथा अपने कार्यके हीनतर मानवीय प्रेरक-भावोंके प्रति गहरे असंतोषने आ घेरा था; उनके स्थानपर विशालतर आध्यात्मिक प्रेरक-भावको प्रतिष्ठित करनेके लिये उसे अपने लिये नियत कर्मकी महान् घड़ीमें यह सत्यदर्शन प्रदान किया गया है। विश्वपुरुषका दर्शन तथा कर्मके लिये दिव्य आदेश ही वह सर्वोच्च शिखर है जिसकी ओर उसे ले जाया जा रहा था। अब वह शिखर निकट आ पहुंचा है; परंतु अभी उसे विभूतियोगके द्वारा जो ज्ञान दिया गया है उसके बिना वह शिखर अपने पूर्ण अर्थसे रिक्त ही रहेगा।

जगत्-सत्ताका रहस्य कुछ अंशमें गीताने प्रकट कर दिया है। कुछ अंशमें ही, क्योंकि उसकी अनंत गहराइयोंका संपूर्ण निरूपण

भला कौन करेगा अथवा कौन मतवाद या दर्शन यह कहेगा कि जगत्-रूपी चमत्कारका समस्त मर्म उसने थोड़ेसे स्थानमें प्रकाशित कर दिया है या एक संक्षिप्त शास्त्रमें आबद्ध कर दिया है? परंतु जहांतक गीताके प्रयोजनके लिये आवश्यक है वहांतक वह हमारे सामने प्रकट कर दिया गया है। भगवान्से जगत्के उत्पन्न होनेका प्रकार, उसके अंदर भगवान्का अंतर्यामी-रूपसे रहना और उसका भगवान्के अंदर रहना, समस्त सत्ताका मूल एकत्व, प्रकृतिके अंदर तमसाच्छन्न मानव आत्माका परमेश्वरसे संबंध, आत्म-ज्ञानके प्रति उसका जागरण, महत्तर चेतनामें उसका जन्म, अपनी आध्यात्मिक ऊंचाइयोंकी ओर उसका आरोहण—यह सब हमें बता दिया गया है। परंतु जब मूल अविद्याके स्थानपर यह नयी आत्म-दृष्टि और चेतना प्राप्त हो गयी, तब भला मुक्त पुरुषकी अपने चारों ओरके जगत्के विषयमें क्या दृष्टि होगी, जिस जगत्-अभिव्यक्तिका प्रधान रहस्य अब उसे ज्ञात हो गया है उसके प्रति उसकी कैसी वृत्ति होगी? सर्वप्रथम, उसे सत्ताकी एकताका ज्ञान तथा उस ज्ञानकी ऐक्य-दृष्टि प्राप्त होगी। वह अपने चारों ओर रहनेवाले सब भूतोंको एक ही दिव्य सत्ताकी आत्मा ों, आकृतियों और शक्तियोंके रूपमें देखेगा। उसके बादसे वह दृष्टि उसकी चेतनाके सभी बाह्यांतर व्यापारोंका आरंभ-बिंदु होगी; वही उसकी मूल दृष्टि होगी, उसके समस्त कार्योंका आध्यात्मिक आधार होगी। वह सब वस्तुओं तथा सभी प्राणियोंको एकमेवमें निवास करते, चलते-फिरते तथा काम-काज करते और दिव्य एवं नित्य सत्में ही अवस्थित देखेगा। परंतु वह उस एकमेवको भी सबका अंतर्वासी, उनका आत्मा, उनकी अंतःस्थ मूल अध्यात्मसत्ता अनुभव

करेगा; वह देखेगा कि अपनी चेतन प्रकृतिके अंदर उस एकमेव-की गुप्त उपस्थितिके बिना वे न तो जी सकते थे और न किसी प्रकारकी गति-चेष्टा या कार्य-व्यापार ही कर सकते थे और उसके संकल्प, शक्ति, अनुमति या मौन स्वीकृतिके बिना किसी भी क्षण उनकी एक भी चेष्टा संभव न होती। स्वयं उन्हें भी, उनकी आत्मा, मन, प्राण और भौतिक ढांचेको भी, वह इस एक आत्मा और अध्यात्म-सत्ताकी शक्ति, संकल्प तथा सामर्थ्यका परिणाम-मात्र देखेगा। उसके लिये सब कुछ इस एक विश्वव्यापी सत्का ही भूतभाव होगा। उनकी चेतनाको वह पूर्णतया उसकी चेतनासे निकली हुई, उनके बल और संकल्पको उसकी शक्ति और संकल्प-से आहरण किये हुए तथा उसीपर निर्भर और उनके आंशिक प्रकृति-प्रपंचको उसकी महत्तर दिव्य प्रकृतिका परिणाम अनुभव करेगा, भले ही तात्कालिक वस्तुस्थितिमें वह मनको परमेश्वरकी अभिव्यक्ति मालूम पड़े या उसका छद्मरूप, उसका एक आकार प्रतीत हो या विकार। वस्तुओंका कोई भी प्रतिकूल या भ्रांति-जनक बाह्य रूप इस दृष्टिकी पूर्णताको न तो जरा भी कम करेगा और न उसका विरोध ही करेगा। यह उस महत्तर चेतनाका, जिसमें वह ऊपर उठा है, मुख्य आधार है, यह परमावश्यक ज्योति है, जो उसके चारों ओर खुल गयी है, तथा देखनेका वह एकमात्र पूर्ण ढंग है, वह एकमात्र सत्य है जो अन्य सबको संभव कर देता है।

परंतु यह संसार परमेश्वरका केवल एक आंशिक प्राकट्य है, यह केवल अपने-आप ही वह भगवान् नहीं है। भगवान् उससे अनंतगुना महान् है जितनी कि कोई प्रकृतिगत अभिव्यक्ति हो

सकती है। अपनी अनंतताके ही कारण, उस अनंतताकी पूर्ण स्वतंत्रताके कारण वे लोकोंकी किसी भी योजना या विश्व-प्रकृतिके किसी भी विस्तारमें परिपूर्ण रूपसे रूपायित हो जानेकी समस्त संभावनासे परे है, भले ही वह या प्रत्येक भुवन हमें कैसा भी विशाल, जटिल, अनंततः विविध क्यों न मालूम पड़े,—**नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे,**—भले ही हमारी सांत दृष्टिको वह कितना ही अनंत क्यों न दीख पड़े। अतएव विश्वसे परे मुक्त आत्मा-का चक्षु इन परम भगवान्‌को देखेगा। इस विश्वको वह आका-रातीत भगवान्‌से लिये गये एक आकार, निरपेक्ष सत्ताके अंदर एक शाश्वत गौण अवस्थाके रूपमें देखेगा। प्रत्येक सापेक्ष और सांत सत्ताको वह दिव्य 'निरपेक्ष' और 'अनंत'के एक आकारके रूपमें देखेगा, तथा सब सांतोंसे परे जाकर और प्रत्येक सांतके भीतरसे होकर वह उस अनंतपर ही पहुंचेगा, प्रत्येक दृग्विषय, प्रकृतिगत जीव तथा सापेक्ष कर्म और प्रत्येक गुण तथा प्रत्येक घटनाके परे सदा उसीको देखेगा; इनमेंसे प्रत्येक चीजको तथा उससे परे देखता हुआ वह भगवान्‌में ही उसका आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त करेगा।

ये चीजें उसके मनके लिये बौद्धिक प्रत्यय नहीं होंगी, न जगत्-के प्रति यह भाव केवल विचारनेका एक ढंग या एक व्यावहारिक सिद्धांत ही होगा। क्योंकि, यदि उसका ज्ञान केवल प्रत्ययात्मक हो तो वह एक दार्शनिक सिद्धांत एवं बौद्धिक रचना होगा, आध्या-त्मिक ज्ञान एवं दृष्टि नहीं, चेतनाकी आध्यात्मिक स्थिति नहीं। ईश्वर और जगत्-विषयक आध्यात्मिक दृष्टि केवल विचारात्मक ही नहीं होती, न वह प्रधानतः या प्रथमतः ही विचारात्मक होती

है। वह तो एक प्रत्यक्ष अनुभूति होती है और उतनी ही सत्य, जीवंत, निकट, अविच्छिन्न, कार्यकर तथा घनिष्ठ होती है जितना कि मन-के लिये आकारों, पदार्थों और व्यक्तियोंका इंद्रियोंद्वारा देखना और अनुभव करना। केवल स्थूल मन ही ईश्वर और आत्माके विषयमें यों सोचता है कि वे एक भावात्मक विचार है जिसे वह दृष्टिका विषय नहीं बना सकता और न शब्दों, नामो, प्रतीकात्मक रूपों तथा कल्पनाओंके बिना अपने सम्मुख निरूपित ही कर सकता है। आत्मा आत्माको देखता है, दिव्यीकृत चेतना ईश्वरको वैसे ही प्रत्यक्ष रूपमें तथा उससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूपमें, वैसे ही घनिष्ठ रूपमें तथा उससे भी अधिक घनिष्ठ रूपमे देखती है जिस रूपमे कि शारीरिक चेतना जड़ पदार्थको देखती है। वह भगवान्-को देखती तथा अनुभव करती है, उनके विषयमे सोचती तथा इंद्रियोंके द्वारा जानती है। कारण, आध्यात्मिक चेतनाको समस्त व्यक्त सत्ता आत्माका जगत् प्रतीत होती है, जडतत्त्वका जगत् नहीं, प्राणका जगत् नही, यहांतक कि मनका जगत् भी नहीं; ये अन्य वस्तुएं उसकी दृष्टिमें केवल ईश्वर-विचार, ईश्वर-शक्ति, ईश्वर-रूप ही होती हैं। वासुदेवमें ही निवास करने और कर्म करने, मयि वर्तते, से गीताका यही तात्पर्य है। आध्यात्मिक चेतना परमेश्वरसे उस घनिष्ठ तादात्म्य-ज्ञानके द्वारा सचेतन है जो नित्य वस्तुके किसी भी मानसिक बोध या गोचर पदार्थके किसी भी ऐंद्रिय अनुभवसे बहुत ही अधिक वास्तविक है। उस निरपेक्ष सत्से भी, जो समस्त जगत्-सत्ताके पीछे और परे विद्य-मान है और जो उसका मूल है तथा उससे अतीत है और उसके उतार-चढावोंसे सदाके लिये पृथक् है, यह उसी प्रकार सचेतन है।

इन परमेश्वरके उस अक्षर आत्मासे भी, जो जगत्‌के परिवर्तनोंमें व्याप्त है तथा उन्हें अपनी अपरिवर्तनशील नित्यताके द्वारा धारण करता है, यह चेतना उसी प्रकार तादात्म्यके द्वारा, अर्थात् हमारी अपनी कालातीत अपरिवर्तनशील अमर आत्माके साथ इस आत्माके एकत्वके द्वारा, सचेतन है। और फिर यह उस दिव्य पुरुषसे भी उसी प्रकार सचेतन है जो इन सब पदार्थों और व्यक्तियोंमें अपने-आपको जानता है और अपनी चेतनामें सभी पदार्थों और व्यक्तियोंका रूप धारण करता है और अपने अंतर्निहित संकल्पके द्वारा उनके विचारों और रूपोंको गढ़ता है तथा उनके कार्योंका परिचालन करता है। निरपेक्ष ईश्वरसे, आत्मा, अध्यात्मसत्ता, अंतरात्मा और प्रकृतिके रूपमें विद्यमान ईश्वरसे यह घनिष्ठ रूपमें सचेतन है। यहांतक कि इस बाह्य प्रकृतिको भी यह तादात्म्य तथा आत्म-अनुभवके ही द्वारा जानती है, पर उस तादात्म्यके द्वारा जो सत्ताकी एकमात्र शक्तिके विभेदों तथा संबंधोंको और उसके महत्तर तथा हीनतर कोटिके कार्योंको स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करता है। क्योंकि, प्रकृति ईश्वरकी नानाविध आत्म-विभूतिकी शक्ति है।

परंतु जगत्-सत्ता-विषयक यह अध्यात्म-चेतना इस संसारमें प्रकृतिको उस प्रकार नहीं देखेगी जिस प्रकार मनुष्यका सामान्य मन उसे अज्ञानमें देखता है, न यह उसे केवल उस रूपमें ही देखेगी जैसी कि वह अज्ञानके परिणामोंके बीचमें है। इस प्रकृतिकी जो कोई भी चीज अज्ञानात्मक है, जो कोई भी चीज अपूर्ण या दुःखदायक या विकृत और घृणाजनक है, वह परमेश्वरकी प्रकृतिके सर्वथा विपरीत कोई वस्तु नहीं है, वरन् उसका

मूल्य उनके पीछे वर्तमान किसी वस्तुमें है, आत्माकी किसी रक्षक शक्तिमें है जिसमें वह अपनी सच्ची सत्ता तथा सार्थकता प्राप्त कर सकती है। एक आद्या सर्वजननी परा प्रकृति है जिसमें भागवत शक्ति एवं आत्म-प्रकाशका संकल्प अपने निजी निरपेक्ष स्वरूप और शुद्ध प्राकट्यका उपभोग करता है। वहां, संसारमें हम जितनी भी शक्तियां देखते हैं उन सबने उच्च एवं पूर्ण शक्ति पायी जाती है। वही हमारे सामने परमात्माकी आदर्श प्रकृति, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं संकल्प, पूर्ण प्रेम और आनंद-की प्रकृतिके रूपमें उपस्थित होती है। उसके गुण और शक्तिके सब अनंत प्रभेद, अनन्त-गुण, अगणन-शक्ति, वहां इस परिपूर्ण प्रज्ञा, संकल्प, शक्ति, आनंद और प्रेमके ऐसे स्वतंत्र आत्म-रूपायण हैं जो अद्भुत रूपसे विविध हैं तथा स्तुत्य और सहज-स्वाभाविक रूपसे सुसंगत हैं। वहां सब कुछ अनंतताओंकी एक बहुमुखी अव्याहत एकता है। आदर्शभूत दिव्य प्रकृतिमें प्रत्येक शक्ति एवं प्रत्येक गुण अपने कार्यमें शुद्ध, पूर्ण, आत्म-अधिकृत तथा समस्वर है, वहां कोई भी चीज अपनी पृथक् सीमित स्वचरितार्थताके लिये चेष्टा नहीं करती, सब एक अवर्णनीय एकत्वमें कार्य करते हैं। वहां सब धर्म, सत्ताके सब विधान—धर्म, सत्ताका विधान, दिव्य शक्ति और गुणका, गुण-कर्मका, केवल एक विशेष व्यापार हैं,—एक ही स्वतंत्र और नमनशील धर्म है। सत्ताकी वह एकमात्र दिव्य शक्ति[1] अपरिमेय स्वतंत्रताके साथ कार्य करती है और, किसी एक ही ऐकांतिक नियमसे न बंधी रहकर, किसी बांधनेवाली

[1]तपस्, चित्-शक्ति।

प्रणालीसे सीमित न रहते हुए, अनंतताकी अपनी निजी क्रीड़ामें आनंद लेती है और आत्म-अभिव्यक्तिके अपने सदा-पूर्ण सत्यसे कभी नही डगमगाती।

परंतु जिस संसारमे हम रहते है उसमें चुनाव और विभेदन-का पृथक्कारी तत्त्व विद्यमान है। यहां हम यह देखते है कि प्रत्येक शक्ति एवं प्रत्येक गुण, जो अभिव्यक्तिके लिये सामने आता है, मानो अपने ही अधिकारके लिये चेष्टा कर रहा है, जिस भी तरहसे हो सके, यथासभव अधिक-से-अधिक स्व-अभिव्यक्ति प्राप्त करनेका यत्न कर रहा है और उस यत्नको अन्य शक्तियों तथा गुणोके अपनी पृथक् स्व-अभिव्यक्तिके लिये किये गये सह-चारी या प्रतिस्पर्धी प्रयत्नके साथ जैसे-तैसे, यथासंभव अच्छे-से-अच्छे या बुरे-से-बुरे ढंगसे अनुकूल बना रहा है। परम आत्मा, भगवान् इस संघर्षरत विश्व-प्रकृतिमे निवास करते है तथा आभ्यं-तरिक गुप्त एकत्वके उस अविच्छेद्य नियमके द्वारा, जिसपर इन सब शक्तियोका कार्य आधारित है, इसमें एक विशेष प्रकारकी समस्वरता स्थापित करते है। परंतु वह एक सापेक्ष समस्वरता है जो मूल विभाजनका परिणाम प्रतीत होती है और मूल एकत्व-से नही बल्कि विभाजनोके आघातसे प्रकट होती तथा उसीके सहारे स्थित रहती हुई दिखायी देती है। अथवा, कम-से-कम ऐसा प्रतीत होता है कि एकत्व दबा और सोया हुआ है, तथा अपने-आपको प्राप्त नही करता, अपने चकरानेवाले छद्मवेशोंको कभी भी उतार नही फेकता। और सचमुच ही वह अपने-आप-को तबतक नही ढूढ़ पाता जबतक इस जगत्-प्रकृतिमें विद्यमान व्यक्ति अपने अंदर उस उच्चतर दिव्य प्रकृतिको नही खोज लेता

जिससे कि वह हीनतर गति उत्पन्न हुई है। तो भी, इस संसार-में कार्यरत गुण और शक्तियां, जो मनुष्य, पशु, पौधे तथा जड़ पदार्थमें नाना प्रकारसे क्रिया कर रही है, सदा ही दिव्य गुण और शक्तियां है, भले ही वे कोई भी रूप क्यों न धारण करे। सभी शक्तियां और गुण परमेश्वरकी ही शक्तियां है। प्रत्येक उनकी दिव्य प्रकृतिसे उद्भूत होती है, यहां निम्नतर प्रकृतिमें अपनी स्व-अभिव्यक्तिके लिये कार्य करती है, इन बाधक अवस्था-ओंमें अपने स्थापन तथा नसिद्ध मूल्योंकी सामर्थ्य बढाती है और, जैसे ही यह अपनी स्व-शक्तिके शिखरोंपर पहुंचती है, यह भग-वान्‌के प्रत्यक्ष प्रकटीकरणके निकट आ जाती है और अपने-आप-को परमोच्च, आदर्श दिव्य प्रकृतिमें निहित अपने निरपेक्ष रूपकी ओर उत्प्रेरित करती है। क्योंकि, प्रत्येक शक्ति परमेश्वरकी ही अंशसत्ता और शक्ति है और शक्तिका विस्तार तथा स्व-प्राकट्य सदा परमेश्वरका ही विस्तार एवं प्राकट्य होता है।

कोई यहांतक कह सकता है कि अपनी तीव्रताके एक विशेष स्थलपर हमारे अंदरकी प्रत्येक शक्ति, ज्ञानकी शक्ति, सकल्पकी शक्ति, प्रेमकी शक्ति, आनंदकी शक्ति एक ऐसा विस्फोट उत्पन्न कर सकती है जो निम्नतर रूप-रचनाके आवरणको छिन्न-भिन्न कर डालता है और उस शक्तिको उसकी पृथक्कारी क्रियासे हटा-कर दिव्य पुरुषकी अनंत स्वतंत्रता और शक्तिके साथ उसके एकत्वमें मुक्त कर देता है। एक सर्वोच्च भगवन्मुख प्रयास मनको ज्ञानकी एक परिपूर्ण दृष्टिके द्वारा मुक्त कर देता है, हृदयको परिपूर्ण प्रेम और आनंदके द्वारा मुक्त कर देता है, संपूर्ण सत्ताको एक महत्तर सत्ताकी ओर संकल्पकी पूर्ण एकाग्रताके द्वारा

मुक्त कर देता है। परंतु यह आघात तथा मुक्तिदायक प्रेरणा तो हमारी वर्तमान प्रकृतिपर भगवान्के उस स्पर्शके द्वारा ही प्राप्त होते हैं जो शक्तिको उसकी सामान्य सीमित भेदमूलक क्रिया तथा उद्देश्योंसे विमुख कर सनातन, विराट् और विश्वातीत-की ओर अभिप्रेरित करता है, अनंत तथा परिपूर्ण ब्रह्मकी ओर फेर देता है। सत्ताकी दिव्य शक्तिकी सक्रिय सर्वव्यापकताका यह सत्य ही विभूतिके सिद्धांतका मूलस्तंभ है।

अनंत दैवी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है और इस नीचेके जगत्-को गुप्त रूपसे धारण करती है, **परा प्रकृतिर्मे यया धार्यते जगत्**, परंतु वह अपने-आपको तबतक पीछेकी ओर, प्रत्येक प्राकृतिक सत्ताके हृदयमें, **सर्वभूतानां हृद्देशे**, छिपाये रखती है जबतक ज्ञान-की ज्योतिके द्वारा योगमायाका पर्दा नहीं फट जाता। जीव, अर्थात् मनुष्यकी आध्यात्मिक सत्ता दिव्य प्रकृतिसे युक्त है। वह दिव्य-प्रकृति-युक्त ईश्वरकी अभिव्यक्ति है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता**, और उसके अंदर सभी दिव्य शक्तियां और गुण, परमात्माकी ज्योति, शक्ति और तपस् प्रसुप्त रूपमे निहित हैं। परंतु इस अपरा प्रकृतिमें, जिसमे हम रहते है, जीव चुनाव और सात निर्धारणके सिद्धांतका अनुसरण करता है, और यहां जन्ममें जो शक्ति-धारा, जो गुण या आध्यात्मिक तत्त्व वह अपने साथ लाता है या अपने आत्म-प्राकट्यके बीजके रूपमें प्रस्तुत करता है वह उसके स्वभावका क्रियाशील अंश, उसका आत्म-संभूतिका नियम बन जाता है और उसके स्वधर्म अर्थात् कर्मके नियमका निर्धारण करता है। और, यदि यही सब कुछ होता तो कोई कठिनाई या परेशानी न होती; मनुष्यका जीवन भगवान्का ज्योतिर्मय

विकास होता। परंतु हमारे जगत्की यह निम्नतर शक्ति अज्ञान, अहंभाव और तीन गुणोंकी प्रकृति है। क्योंकि यह अहंभावकी प्रकृति है, जीव अपनेको पृथक्कारी अहं समझता है: वह अहभाव-मय ढंगसे, दूसरोंकी पृथक्कारी अस्तित्व-इच्छाके साथ संघर्ष तथा संसर्गमें आनेवाली एक पृथक्कारी अस्तित्व-इच्छाके रूपमें, अपनी आत्म-अभिव्यक्ति साधित करता है। वह जगत्को संघर्षके द्वारा अधिकृत करनेका यत्न करता है, एकता और समस्वरताके द्वारा नहीं; यह अहं-केंद्रिक विरोध-वैषम्यपर बल देता है। क्योंकि यह अज्ञान, अंध अवलोकन तथा अपूर्ण या आंशिक आत्म-अभि-व्यक्तिकी प्रकृति है, वह अपने-आपको नही जानता, अपनी सत्ताका नियम नही जानता, किंतु अंधप्रेरणावश उसका अनुसरण करता है, जगत्-शक्तिकी ठीक तरहसे न समझी हुई प्रेरणाके अनुसार, संघर्षपूर्वक, अत्यधिक अंतर्विरोधके साथ, च्युत होनेकी बहुत ही बड़ी सभावनाके साथ उसका अनुसरण करता है। क्योंकि यह तीन गुणोंकी प्रकृति है, यह अस्तव्यस्त और आयासशील आत्म-अभिव्यक्ति अक्षमता, विच्युति या आंशिक आत्म-उपलब्धिके नाना-विध रूप ग्रहण करती है। तमोगुण अर्थात् अधकार और जड़ता-के गुणके वशीभूत होकर सत्ताकी शक्ति दुर्बलतापूर्ण अस्तव्यस्तता, प्रबल अक्षमता, अज्ञानकी शक्तियोंकी अंध यांत्रिकताके प्रति अभीप्सा-रहित अधीनताके साथ कार्य करती है। रजोगुण अर्थात् कर्म, कामना और अधिकारके गुणकी प्रबलता होनेपर संघर्ष तथा प्रयास देखनेमें आता है, शक्ति-सामर्थ्यका विकास होता है, परंतु वह (विकास) स्खलनशील, दुःखदायी तथा उग्र होता है; अशुद्ध धारणाओं, पद्धतियो तथा आदर्शोंके कारण पथभ्रांत हो जाता है;

ठीक धारणाओं, पद्धतियों या आदर्शोंका दुरुपयोग करने, उन्हें विगाड़ने तथा उलटा कर देनेकी ओर प्रेरित होता है, और, विशेष-कर, अहंभावके बहुत अधिक और प्रायः ही विराट् अतिरंजनकी ओर प्रवृत्त होता है। सत्त्वगुण अर्थात् प्रकाश, संतुलन और शांति-के गुणकी प्रबलता होनेपर अधिक सामंजस्यपूर्ण कार्य और प्रकृतिके साथ यथोचित व्यवहार होता है, पर वह व्यवहार वैयक्तिक ज्योति-की तथा इस निम्नतर मानसिक संकल्प और ज्ञानके अधिक अच्छे रूपोंका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ शक्तिकी सीमाओंके भीतर ही उचित होता है। इस उलझनसे छुटकारा पाना, अज्ञान, अहंता और त्रिगुणसे परे उठ जाना दिव्य पूर्णताकी ओर पहला यथार्थ कदम है। ऐसे अतिक्रमणसे ही जीव अपनी दिव्य प्रकृति तथा सच्ची सत्ता प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक चेतनामें विद्यमान मुक्त ज्ञान-चक्षु जगत्पर दृष्टि-पात करते हुए केवल इस संघर्षशील निम्नतर प्रकृतिको ही नहीं देखता। यदि हम अपनी तथा दूसरोंकी प्रकृतिके दृश्यमान बाह्य तथ्यको ही देखते है तो हम अज्ञानकी आंखसे देख रहे हैं और हम सबमे, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक प्राणीमें, देव और दानवमे, संत और पापीमे, ज्ञानी और अज्ञानीमे, बड़े और छोटेमें, मनुष्य, पशु, वनस्पति तथा जड़ सत्तामे समान रूपसे ईश्वरको नही जान सकते।.. मुक्त-दृष्टि तो प्राकृतिक सत्ताके संपूर्ण गुह्य सत्यके रूपमे एक साथ तीन वस्तुओंको देखती है। प्रथमत. और प्रधानतः वह सबमे दिव्य प्रकृतिको गुप्त, उपस्थित तथा विकासके लिये प्रतीक्षा करते हुए देखती है; वह उसे सब वस्तुओंमें विद्यमान वास्तविक शक्तिके रूपमें देखती है, एक ऐसी शक्तिके रूपमे जो

विभिन्न गुण और शक्तिके इस समस्त प्रतीयमान व्यापारको उसका मूल्य प्रदान करती है, और गुण एवं शक्ति-रूपी इन दृग्विषयोंके अर्थका अनुशीलन वह इनकी अपनी अहंता और अज्ञानकी भाषामें नहीं बल्कि दिव्य प्रकृतिके प्रकाशमें करती है। इसलिये, दूसरे नंबरपर, वह देव और राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी और सरीसृप, सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और विद्वान्में प्रतीयमान कार्यके भेदोको भी देखती है, पर इन अवस्थाओंमें, इन आवरणोंकी ओटमें होते हुए दिव्य गुण और शक्तिके व्यापारके रूपमें ही। वह आवरणसे भ्रांत नही हो जाती बल्कि प्रत्येक आवरण के पीछे परमेश्वरको पहचान सकती है। वह विकृति या अपूर्णताको देखती है, पर उसे भेदकर उसके पीछे विद्यमान आत्माके सत्यतक जा पहुचती है, इतना ही नही बल्कि वह उसे उस विकृति एवं अपूर्णतामें भी ढूंढ़ निकालती है जो अपने-आपसे अंधी बनी हुई है, अपने स्वरूपको पानेके लिये संघर्ष कर रही है, स्व-अभिव्यक्ति और अनुभूति-के अनेक रूपोंके द्वारा अपनी आत्माके पूर्ण ज्ञान, अपने अनंत और चरम रूपपर पहुंचनेके लिये अंधवत् टटोल रही है। मुक्त दृष्टि विकृति और अपूर्णतापर अनुचित बल नही देती बल्कि सबको, हृदयमें पूर्ण प्रेम और उदारता, बुद्धिमें पूर्ण समझ तथा आत्मामें पूर्ण समता रखते हुए, देखनेमें समर्थ होती है। अंतमे, वह अस्तित्व-संकल्प (will-to-be) की प्रयासकारी शक्तियोंके ईश्वरकी ओर ऊर्ध्वमुख संवेगको देखती है; शक्ति और गुणकी सभी उच्च अभिव्यक्तियोंको, देवत्वकी जाज्वल्यमान जिह्वाओको, निम्नतर प्रकृतिके स्तरोंसे समुज्ज्वल प्रज्ञा और ज्ञान, महान् शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता, साहस, वीरता, प्रेम और आत्म-दानके सदय माधुर्य, उत्साह

और गौरव, उत्कृष्ट सद्‌गुण, श्रेष्ठ कर्म, मोहक सुषमा तथा सम-स्वरता, सुंदर तथा दिव्य सृजनके शिखरोंकी ओर ऊपर उठी हुई अपनी प्रखरताओंसे युक्त आत्मा, मन और प्राणकी आरोही महान-ताओंको वह सम्मानित, अभिनंदित और प्रोत्साहित करती है। आत्मिक चक्षु महान् विभूतिके अंदर मनुष्यके उदीयमान देवत्वको देखता और उसे पहचान लेता है।

उसका वह पहचानना परमेश्वरको शक्तिके रूपमें पहचानना होता है, पर शक्ति यहां अपने व्यापकतम अर्थमें ही अभिप्रेत है, अर्थात् केवल बल-सामर्थ्य ही नहीं बल्कि ज्ञान, संकल्प, प्रेम, कर्म, पवित्रता, मधुरता तथा सुंदरताकी शक्तिके अर्थमें भी। भगवान् सत्ता, चेतना और आनंद है, और इस जगत्‌में सब वस्तुएं अपने-आपको व्यक्त करती हैं और फिर सत्ताकी शक्ति तथा चेतना एवं आनंदकी शक्तिके द्वारा अपना स्वरूप पुनः प्राप्त कर लेती हैं; यह दिव्य शक्तिके कार्योंका जगत् है। वह शक्ति यहां अपने-आपको असंख्य प्रकारके भूतोंमें रूपान्वित करती है और उनमेंसे प्रत्येकके अंदर उसकी शक्तिकी निजी विशिष्ट शक्तियां हैं। प्रत्येक शक्ति उस रूपके अंदर विद्यमान स्वयं भगवान् ही हैं, जैसे हरिणीमें वैसे ही सिंहमें, जैसे देवमें वैसे ही दानवमें, जैसे भूतलपर रहनेवाले विचारशील मनुष्यमें वैसे ही आकाशमें जगमगानेवाले निश्चेतन सूर्यमें वे ही विद्यमान हैं। त्रिगुणके द्वारा उत्पन्न विकार वास्तवमें मुख्य नहीं बल्कि एक गौण रूप ही है; मुख्य वस्तु तो वह दिव्य शक्ति है जो आत्म-अभिव्यक्तिको प्राप्त कर रही है। भगवान् ही अपने-आपको महान् मनीषी, वीर, जननायक, महान् गुरु, ज्ञानी, पैगंबर, धर्म-संस्थापक, संत, मानवप्रेमी, महाकवि,

महान् कलाकार, महान् वैज्ञानिक, तप-परायण आत्म-वशी, वस्तुओं, घटनाओं तथा शक्तियोंको वशमें करनेवाले मनुष्यमें प्रकट करते हैं। स्वयं वह कृति भी, वह उच्च काव्य, सौंदर्यका पूर्ण रूप, गभीर प्रेम, उदात्त कर्म, दिव्य उपलब्धि ईश्वरकी ही गति होती हैं; वह अभिव्यक्तिगत भगवान् ही होती है।

यह एक ऐसा सत्य है जिसे सब प्राचीन संस्कृतियां स्वीकृत और समादृत करती थीं, परंतु आधुनिक मनके एक पार्श्वको इस विचारके प्रति अपूर्व घृणा है, वह इसमें निरे शक्ति-सामर्थ्यकी पूजा, अज्ञानपूर्ण या आत्म-पतनकारी वीर-पूजा या आसुरी अति-मानवके सिद्धांतको ही देखता है। निःसंदेह, जैसे सभी सत्योंको ग्रहण करनेका एक अज्ञानमय तरीका है वैसे ही इस सत्यको ग्रहण करनेका भी एक अज्ञानमय तरीका है, परंतु प्रकृतिकी दिव्य नियम-व्यवस्थामें इसका अपना एक विशेष स्थान है, एक अनिवार्य कार्य है। गीता इसे उस समुचित स्थानमें तथा उस दृष्टि-बिंदुसे हमारे सामने रखती है। इसे सब मनुष्यों तथा सब प्राणियोंमें विद्यमान दिव्य आत्माके प्रत्यभिज्ञानपर आधारित होना होगा; बड़ी और छोटी, प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध सब अभिव्यक्तियोंके साथ इसे हार्दिक समभावपूर्वक सुसंगति रखनी होगी। अज्ञानी, दीन, दुर्बल, पापी तथा पतित—सभीमें ईश्वरको देखना और प्रेम करना होगा। स्वयं विभूतिमें भी जिस सत्ताको इस प्रकार स्वीकृत तथा सम्मानित करना होगा वह बाह्य व्यक्ति नहीं बल्कि वे एकमात्र देवाधिदेव हैं जो अपने-आपको उस शक्तिमें प्रकट करते हैं, हां, प्रतीक-रूपमें व्यक्तिकी स्वीकृति और सम्मान एक अलग बात है। परंतु यह बात इस तथ्यको रद्द नहीं कर देती कि अभि-

व्यक्तिमें एक चढ़ती हुई शृंखला है और प्रकृति अपनी आत्म-अभिव्यक्तिके क्रमोंमें अपने अंधान्वेषी, अंधकारमय या अप्रकाशित प्रतीकोंसे परमेश्वरकी प्रथम गोचर अभिव्यक्तियोंकी ओर ऊपर आरोहण करती है। प्रत्येक महान् सत्ता, प्रत्येक महान् प्राप्ति उसकी स्व-अतिक्रमणकी शक्तिका चिह्न है और साथ ही चरम-परम अतिक्रमणका आश्वासन है। स्वयं मनुष्य भी पशु तथा उदरसर्पी जीवोंकी अपेक्षा प्राकृतिक अभिव्यक्तिका एक उच्चतर सोपान है, यद्यपि दोनोंमें वही एक 'समं ब्रह्म' विद्यमान है। परंतु मनुष्य अभी अपने स्व-अतिक्रमणके उच्चतम शिखरोंपर नहीं पहुंचा है और इस बीच उसके अंदर निहित अस्तित्व-संकल्पकी महान् शक्तिके प्रत्येक इंगितको आश्वासन और संकेत मानना होगा। जब हम उन महान् मार्गदर्शकोंके पदचिह्नोंकी ओर दृष्टिपात करते हैं, जो उसे उपलब्धिके चाहे किसी भी सोपानसे अतिमानवताकी ओर ले जाते हैं या संकेत करते हैं, तो मनुष्यमें, सभी मनुष्योंमें अवस्थित देवत्वके लिये हमारा सम्मान कम नहीं होता बल्कि बढ़ता ही है और साथ ही उसे एक अधिक समृद्ध अर्थ भी प्राप्त होता है।

स्वयं अर्जुन भी एक विभूति है; वह आध्यात्मिक विकासमें एक उच्चताप्राप्त मनुष्य है, अपने समसामयिकोंके समुदायमें एक विख्यात व्यक्ति, मानवजातिमें विराजमान ईश्वर, भगवन्नारायण-का चुना हुआ यंत्र है। एक स्थानपर भगवान् गुरु सबके परम तथा सम आत्माके रूपमें बोलते हुए घोषित करते हैं कि न कोई मेरा प्रिय है न द्वेष्य, पर अन्य स्थानोंपर वे कहते हैं कि अर्जुन उनका प्रिय और भक्त है और इसलिये वह उनके द्वारा परि-

चालित तथा उनके हाथोंमें सुरक्षित है, दिव्य दर्शन तथा ज्ञानके लिये चुना हुआ है। यहां केवल ऊपरी ही असंगति है। विश्व-के आत्माके रूपमें वह शक्ति सबके प्रति सम है, अतएव प्रत्येक मनुष्यको वे उसकी प्रकृतिके व्यापारोंके अनुसार प्रदान करते हैं; किंतु पुरुषोत्तमका मनुष्यके साथ वैयक्तिक संबंध भी है जिसमें वे उस व्यक्तिके लिये विशेष रूपसे निकट हैं जो उनके पास पहुंच गया है। ये सब शूरवीर और महारथी जो कुरुक्षेत्रके मैदानमें युद्धमें सम्मिलित हुए हैं भगवत्संकल्पके वाहन हैं और प्रत्येकके द्वारा वे उसकी प्रकृतिके अनुसार कार्य करते हैं पर उसके अहंके पर्देकी ओटमें ही। अर्जुन उस स्थलपर पहुंच गया है जहां आव-रणको विदीर्ण किया जा सकता है तथा देहधारी भगवान अपनी विभूतिके सम्मुख अपनी कार्यशैलीका रहस्य प्रकाशित कर सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि सत्यका दर्शन कराना आवश्यक भी है। वह एक महान् कर्मका यंत्र है, ऐसे कर्मका जो देखनेमें तो भीषण है पर मानवजातिकी यात्रामें आगेकी ओर एक लंबा कदम उठानेके लिये तथा धर्मराज्य, ऋत और सत्यके राज्यके संस्था-पनार्थ किये जानेवाले उसके संघर्षमें एक निर्णायक गतिविधिके लिये आवश्यक है। मानवके युग-चक्रोंका इतिहास मानवताके अंतरात्मा और जीवनमें परमेश्वरको निरावृत करनेके लिये होने-वाला एक क्रम-विकास है; उसकी प्रत्येक महान् घटना और अवस्था एक दिव्य अभिव्यक्ति है। गुप्त इच्छाशक्तिके प्रधान यंत्र, महान् नायक अर्जुनको वह महान् कर्म सचेतन रूपसे, भग-वान्के कार्यके रूपमें करनेके योग्य दिव्य मानव बनना होगा। इस प्रकार करनेसे ही वह कर्म आंतरात्मिक रूपसे सजीव बन सकता

है तथा अपना आध्यात्मिक महत्त्व और अपने गुप्त अर्थकी ज्योति एवं शक्ति प्राप्त कर सकता है। उसे आत्म-ज्ञानके लिये आह्वान प्राप्त हुआ है; उसे ईश्वरको विश्वके स्वामी तथा जगत्के प्राणियों और घटनाओंके मूलके रूपमें तथा सबको प्रकृतिके अंदर परमेश्वरकी आत्म-अभिव्यक्तिके रूपमें देखना होगा, सबके अंदर ईश्वरको देखना होगा, अपने अंदर मानव तथा विभूतिके रूपमें ईश्वरको ही अनुभव करना होगा, सत्ताकी निचाइयोंमें तथा उसकी ऊंचाइयोंपर, उच्च-से-उच्च शिखरोंपर ईश्वरको ही देखना होगा, उसे मनुष्यको भी ऊंचाइयोंपर विभूतिके रूपमें, तथा परम मोक्ष और मिलनमें अंतिम शिखरोंकी ओर आरोहण करते हुए देखना होगा। अपने उत्पत्ति और संहारके कर्ममें अपने पग रखते हुए कालको भी उसे परमेश्वरकी मूर्त्तिके रूपमें देखना होगा,—ऐसे पग जो सृष्टिके उन विकास-चक्रोंको पूरा करते हैं जिनकी गतिके आवर्तोंपर मानव-देहमें अवस्थित दिव्य आत्मा जगत्में ईश्वरकी विभूतिके रूपमे उनका कार्य करता हुआ परमोच्च परात्परताओंकी ओर उन्नीत हो जाता है। यह ज्ञान प्रदान कर दिया गया है; भगवान्का काल-रूप अब प्रकट किया जाना है और उस रूपके कोटि-कोटि मुखोंसे मुक्त विभूतिके सम्मुख नियत कर्मके लिये आदेश निःसृत होनेवाला है।

१०

विश्वरूपदर्शन

संहारक काल

विश्व-पुरुषका दर्शन गीताके उन सुप्रसिद्ध प्रकरणोंमेंसे है जो अत्यंत ओजस्वी रूपमें काव्यमय है, परंतु गीताकी विचारधारामें इसका स्थान पूर्ण रूपसे प्रकट नही है। स्पष्ट ही यह एक काव्यात्मक तथा सत्योद्भासक प्रतीकके रूपमें अभिप्रेत है और इसके आशयको ग्रहण कर सकनेके पूर्व हमें देखना होगा कि इसका सूत्रपात कैसे तथा किस प्रयोजनसे किया गया है, साथ ही यह भी जानना होगा कि अपने अर्थगर्भित रूपोमे यह किस बातकी ओर संकेत करता है। अगोचर भगवान्‌की जीवंत प्रतिमा तथा प्रत्यक्ष महिमाको, जगत्‌का सचालन करनेवाले परम आत्मा और शक्तिके साक्षात् विग्रहको देखनेकी इच्छासे अर्जुनने ही इसके लिये प्रार्थना की है। उसने सत्ताके इस सर्वोच्च आध्यात्मिक रहस्यको श्रवण कर लिया है कि सब कुछ भगवान्‌से उत्पन्न हुआ है तथा सब कुछ भगवान् है और सभी चीजोमें भगवान् निवास करते तथा गुप्त रूपसे विद्यमान है और प्रत्येक सात दृश्य वस्तुमें उन्हे प्रकट किया जा सकता है। वह भ्रम जो मनुष्यके मन

तथा इंद्रियोंको इतनी दृढ़तासे अपने अधिकारमें रखता है, अर्थात् यह धारणा कि वस्तुएं ईश्वरसे पृथक् अपने-आपमें या अपने लिये अस्तित्व रखती हैं, अथवा प्रकृतिके अधीन रहनेवाली कोई भी वस्तु स्वयमेव प्रेरित तथा परिचालित हो सकती है, उससे दूर हो गयी है,—यही उसके संदेह एवं व्यामोहका तथा कर्मसे इन्कार करनेका कारण था। अब उसे पता लग गया है कि भूतोंके जन्म और मरणका क्या अभिप्राय है। उसे मालूम हो गया है कि दिव्य चिन्मय आत्माका अक्षय माहात्म्य ही इस सब दृश्य प्रपंचका रहस्य है। यह सब कुछ वस्तुओंमें विद्यमान इन महान् सनातन परमात्माका योग है और सभी घटनाएं उस योगका परिणाम तथा प्राकट्य हैं ; समस्त प्रकृति निगूढ़ भगवान्से परिपूर्ण है और अपने अंदर उसीको प्रकाशित करनेका कठिन प्रयास कर रही है। परंतु यदि संभव हो तो, वह इन परमेश्वरके साक्षात् रूप तथा विग्रहको भी देखना चाहता है। वह उनके गुणोंका श्रवण कर चुका है तथा उनके 'आत्म-प्रकटीकरणके सोपानों तथा तरीकोंको समझ चुका है; परंतु अब वह इन योगेश्वरसे कहता है कि मेरे योग-चक्षुके सम्मुख अपने उस वास्तविक अव्यय आत्माको प्रकाशित कीजिये। स्पष्ट ही उसका अभिप्राय उनके निष्कर्म अक्षरभावकी निराकार नीरवतासे नहीं है, बल्कि उन पुरुषोत्तमसे है जिनसे समस्त शक्ति एवं कर्म उद्भूत होता है, सभी रूप जिनके आवरण हैं, जो विभूतिमें अपनी शक्ति प्रकाशित करते हैं, जो कर्मोंके स्वामी, ज्ञान और भक्तिके स्वामी, प्रकृति और उसके समस्त प्राणियोंके महेश्वर हैं। इस महान्से महान् सर्वग्राही दिव्यदर्शनके आश्चर्य प्रार्थना करनेके लिये उसे प्रेरित किया गया है क्योंकि

इस प्रकार ही उसे, जगत्कर्ममें अपना भाग ग्रहण करनेके लिये, विश्वमे अभिव्यक्त परमात्मासे आदेश प्राप्त करना होगा।

अवतार उत्तर देते हैं कि जो कुछ तुझे देखना है उसे मानवीय चक्षु नही ग्रहण कर सकता,—क्योंकि मानवीय चक्षु वस्तुओंके केवल बाह्य रूप ही देख सकता है अथवा उनके द्वारा कुछ पृथक् प्रतीकात्मक रूप निर्मित कर सकता है, जिन रूपोमेंसे हर एक शाश्वत रहस्यके कुछ एक पक्षोका ही सूचक होता है। परतु एक दिव्य चक्षु, अंतरतम दृष्टि भी है जिसके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्को उनके अपने ऐश्वर योगमे देखा जा सकता है और वह चक्षु अब मैं तुझे देता हूं। वे कहते हैं कि तू मेरे नाना प्रकारके, नाना वर्णों और आकारोवाले सैकड़ो और सहस्रो दिव्य रूप देखेगा, तू आदित्यों, रुद्रों, मरुतो और 'अश्विनो'को देखेगा, तू ऐसे वहुतसे आश्चर्य देखेगा जिन्हे किसीने नहीं देखा है; तू आज संपूर्ण जगत्को मेरी देहके अंदर परस्पर-संबद्ध तथा एकत्र-स्थित देखेगा तथा और जो कुछ भी तू देखना चाहता है वह सब भी देखेगा। इस प्रकार इस विश्वरूपदर्शनका मूल स्वर तथा प्रधान मर्म यही है। यह वहुमें एक तथा एकमें बहुका दर्शन है,—सब वस्तुए वह 'एक' ही हैं। यही दर्शन उस सबको जो है और था और होगा, दिव्य योगके चक्षुके सामने उन्मुक्त कर देता है और उसका समर्थन तथा व्याख्या करता है। एक बार इसके प्राप्त हो जाने तथा इसे धारण कर लेनेपर यह भागवत ज्योतिके खड्गसे सब संशयो तथा व्यामोहोंकी जड़ काट डालता है और सब निषेधो तथा विरोधोंका उन्मूलन कर देता है। यही वह दर्शन है जो वस्तुओमे समन्वय और एकत्व स्थापित करता है। यदि जीव इस दर्शन-

में परमात्माके साथ एकत्व प्राप्त कर सके,—अर्जुन अभीतक इसे नहीं प्राप्त कर सका है, इसलिये हम देखते हैं कि दर्शन करनेपर वह भयभीत होता है—तो, इस संसारमें जो कुछ भी भीषण है वह सब भी उसके लिये त्रासकारी नहीं रह जायगा। तब हम देखेंगे कि वह भी परमेश्वरका ही एक रूप है और एक बार जब हम, उसे केवल अपने-आपमें ही न देखते हुए, उसके अंदर उनके प्रयोजनको ढूढ़ लेंगे, तब हम संपूर्ण जगत्को सर्वालिंगी हर्ष तथा प्रबल उत्साहके साथ अंगीकार कर सकेंगे, अपने नियत कर्मकी ओर सुनिश्चित पगोंसे अग्रसर हो सकेंगे और उससे परे परमोच्च परिणतिको अपनी दृष्टिमें ला सकेंगे। जिस जीवको उस दिव्य ज्ञानमें प्रवेश प्राप्त हुआ है जो सभी वस्तुओंको, विभक्त, खंडित और अतएव व्यामूढ़ दृष्टिसे नहीं बल्कि एक ही अखंड दृष्टिसे देखता है, वह जीव जगत्के तथा और जो कुछ भी वह देखना चाहता है, **यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि**, उस सबके बारेमें नयी खोज कर सकता है; सबको संबद्ध तथा एकीभूत करनेवाले इस दर्शनके आधारपर वह एक सत्यदृष्टिसे अधिकाधिक पूर्ण सत्यदृष्टिकी ओर बढ़ सकता है।

वह परम 'रूप' तब उसे दिखाया जाता है। वह उन अनंत परमेश्वरका रूप है जो विश्वतोमुख तथा सर्वाश्चर्यमय हैं, जो अपनी सत्ताके अनेक अद्भुत दर्शनोंको अनंत रूपसे बहुगुणित करते हैं, जो असंख्य नेत्रों तथा असंख्य वक्त्रोंवाले, अगणित दिव्य आयुधोंसे युद्धके लिये सुसज्जित, सुंदर दिव्य आभरणोंसे शोभायमान, दिव्यांबरधारी, दिव्य पुष्पोंकी मालाओंसे सुशोभित, दिव्य गंधोंके अनुलेपनसे सुवासित विश्वव्यापी देव हैं। ईश्वरके इस विग्रहकी

प्रभा ऐसी है मानों सहस्रों सूर्य आकाशमें एक साथ उदित हो उठे हों। बहुधा विभक्त और फिर भी एकीभूत सारेका सारा जगत् उस देवदेवकी देहमें दृष्टिगोचर हो रहा है। अर्जुन उन देवाधिदेवके, उन ऐश्वर्यमय, शोभन तथा भीषण परमेश्वरके, जीवोंके प्रभु उन परमात्माके दर्शन करता है जिन्होंने अपनी आत्म-सत्ताकी गरिमा-महिमाके अंदर इस उग्र एवं भयावह और व्यव-स्थित, अद्‌भुत एवं मधुर तथा भीषण जगत्‌को व्यक्त किया है, और हर्ष, भय तथा विस्मयसे आविष्ट होकर वह उस विकराल विश्वरूपके आगे शीश नवाता है तथा हाथ जोड़कर सभ्रमपूर्ण वचनोंके साथ उसकी पूजा करता है। वह कहता है, "हे देव, आपकी देहमें मैं सब देवों, विभिन्न भूतसंघों, कमलासनस्थ स्रष्टा देव ब्रह्मा, तथा ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंकी जातिको देखता हूं। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, मैं असंख्य भुजाएं, उदर, नेत्र और मुख देखता हूं, मैं सब ओर आपके अनंत रूप देखता हूं, पर न तो मैं आपका अंत देखता हूं और न ही मध्य और न आदि, मैं आपको मुकुटमाली, गदाचक्रधारी, तथा दुर्निरीक्ष्य देखता हूं क्योंकि आप मेरे चारों ओर दीप्तिमान् तेजकी राशि हैं, सब ओर व्याप्त प्रभा हैं, जाज्वल्यमान सूर्य तथा दीप्त अनलके समान द्युतिमान् अप्रमेय हैं। आप जानने योग्य परम अक्षर हैं, आप इस विश्वके परम आधार और निलय हैं, आप शाश्वत धर्मोंके अविनाशी रक्षक हैं, आप जगत्‌के सनातन आत्मा, सनातन पुरुष हैं।"

पर इस दर्शनकी महानतामें संहारकर्त्ताका भीषण रूप भी सम्मिलित है। ये आदि, मध्य या अंतसे रहित अप्रमेय वे हैं जिनमें सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, जिनके अंदर वे स्थित रहती हैं

तथा अंतमें लीन हो जाती है। ये परमेश्वर अपनी अनंत बाहुओं-से लोकोंका आलिंगन किये हुए है और अपने लाखों हाथोंसे संहार करते है, शशि और सूर्य इनके नेत्र हैं, इनका मुख दीप्त अनलके समान है और ये सदैव अपने तेजसे संपूर्ण विश्वको तपा रहे है। इनका रूप उग्र तथा अद्‌भुत है, ये अकेले ही सभी दिशाओं तथा द्यावा-पृथिवीके सपूर्ण अंतरालमें व्याप्त है। देवसंघ भयभीत होकर स्तुति-गान करते हुए इनके विश्वरूपके अंदर प्रविष्ट हो रहे हैं; ऋषि और सिद्ध "सुख और शांति हो" ऐसा कहते हुए पुष्कल स्तुतियोंसे इनकी स्तुति कर रहे है; देव, गंधर्व, यक्ष, असुर विस्मित होकर निर्निमेष नेत्रोंसे इन्हे देख रहे है; इनके नेत्र दीप्त और विशाल है; इनके मुख निगल जानेके लिये खुले हुए है तथा अनेक संहारकारी दंष्ट्राओंके कारण विकराल हैं; इनके मुखोंकी आकृति मृत्यु और कालकी अग्नियोंके समान है। जगत्-संग्रामके दोनों पक्षोंके राजा, वीर तथा सेनानायक इनके दंष्ट्राकराल भया-नक मुखोंमें तीव्र वेगसे प्रविष्ट हो रहे है और कई तो चूर्णित तथा रक्तरंजित सिरोंवाले इनके शक्तिरूपी दांतोंके बीच फंसे हुए दिखाई दे रहे है। राष्ट्र-के-राष्ट्र, अदम्य वेगके साथ, इनके ज्वालामय मुखोंके अंदर उसी प्रकार संहारकी ओर भागे चले जा रहे है, जैसे अनेकानेक नदियोंकी वेगवती धाराएं समुद्रकी ओर दौड़ी चली जाती है या जैसे पतंग प्रदीप्त अग्निपर टूट-टूटकर पड़ते है। उन प्रज्वलित मुखोंसे वह उग्र रूप दशों दिशाओंको ग्रसे जा रहा है; संपूर्ण जगत् उनकी संदीप्त तेजराशिसे परिपूर्ण है तथा उनकी उग्र प्रभाओंमें प्रतप्त हो रहा है। जगत् और उसके राष्ट्र संहारके भयसे कंपित तथा व्यथित हो रहे हैं और

अपने चारों ओर फैले हुए दु:ख-कष्ट और महाभयके बीच अर्जुन भी दु:खित और भयभीत हो रहा है; उसकी अतरात्मा दु:खित और व्यथित हो रही है और वह शांति या प्रसन्नता नही अनुभव कर रहा है। वह उन रौद्र परमेश्वरसे कहता है, "कृपा करके बताइये कि आप कौन है, आप जो कि इस उग्र रूपको धारण करते है। हे देववर, आपको प्रणाम हो, आप प्रसन्न होइये। मैं जानना चाहता हूं कि आप, जो कि आदि कालसे चले आ रहे हैं, वे आप कौन है, क्योंकि मैं आपकी कार्य-प्रवृत्तिको नही जानता।"

अर्जुनकी यह अंतिम पुकार इस बातको सूचित करती है कि इस विश्वरूपदर्शनका उद्देश्य दोहरा है। यह उन परात्पर तथा विराट् पुरुषका रूप है जो सनातन पुराण पुरुष है, सनातनं पुरुषं पुराणम्, ये वे है जो सदा ही सृष्टि करते है, क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा इनके शरीरके अंदर देखे हुए देवोंमेंसे एक है, साथ ही ये ये है जो सदा ही इस लोकके अस्तित्वको बनाये रखते है, क्योंकि वे शाश्वत धर्मोंके रक्षक है, पर ये वे भी हैं जो सदैव संहार कर रहे है जिससे कि वे नयी सृष्टि कर सके, जो काल तथा मृत्यु है, सौम्य तथा रौद्र नृत्य करनेवाले रुद्र हैं, संग्राममें नग्न नृत्य करती हुई रौदती चली जानेवाली और निहत असुरोंके रक्तसे सनी हुई मुण्डमालाधारिणी काली है, आंधी-बवंडर, आग, भूचाल, व्यथा, दुर्भिक्ष, विप्लव, विनाश तथा प्रलयंकर समुद्र है। अपने इस अंतिम रूपको ही वे उस समय सामने लाते है। यह वह रूप है जिससे मनुष्यका मन जानबूझकर परे भागता है और जिससे वह शुतुरमुर्गकी तरह अपना सिर छुपा लेता है ताकि शायद स्वयं न देखनेपर वह उस 'रौद्र'की भी नजरमें न आये। दुर्बल मानव

हृदय केवल सुंदर तथा सुखद सत्योंको ही चाहता है अथवा उनके अभावमें मनोहर गाथाओंको ही पसंद करता है; वह सत्यको उसकी समग्रतामें नही प्राप्त करना चाहता क्योंकि सत्यमें ऐसा बहुत कुछ है जो स्पष्ट, मनोहर तथा सुखद नही है, इतना ही नही, बल्कि जिसे समझना कठिन है तथा सहन करना और भी कठिन। कच्चा धर्मवादी, उथला आशावादी विचारक, भावुक आदर्शवादी, अपने भावों तथा संवेदनोंका दास मनुष्य विश्व-सत्ताके कठोरतर परिणामों तथा कर्कशतर और उग्रतर रूपोंको ऐंचतान कर उनसे बचनेमें एकमत है। छिपनेके इस सर्वसाधारण खेलमे भाग न लेनेके कारण भारतीय धर्मकी अज्ञानपूर्वक निंदा की गयी है, क्योंकि, इसके विपरीत, उसने परमेश्वरके रौद्र तथा मधुर और सुंदर प्रतीकोंको निर्मित किया तथा अपने सामने रखा है। परंतु उसके सुदीर्घ चिंतन तथा आध्यात्मिक अनुभवकी गंभीरता तथा विशालता ही उसे इन निस्सार जुगुप्साओंको अनुभव करने या इनका समर्थन करनेसे रोकती हैं।

भारतीय आध्यात्मिकताको मालूम है कि ईश्वर प्रेम, शांति तथा अचल नित्यता है,—गीता, जो इन उग्र रूपोंको हमारे सामने रखती है, उन परमेश्वरकी बात कहती है जो सर्वभूतोंके सखा और प्रेमीके रूपमें इनके अंदर अपनेको मूर्तिमंत करते है। परंतु उनके द्वारा किये जानेवाले जगत्के दिव्य शासनका एक अधिक कठोर रूप भी है, जो आरंभसे ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह है संहारका रूप। उसकी उपेक्षा करना भागवत प्रेम, शांति, स्थिरता और नित्यताके पूर्ण सत्यसे वंचित होना है और यहांतक कि इसे आंशिकता तथा भ्रमका रूप देना है, क्योंकि जिस

सुखप्रद ऐकांतिक रूपमें इसे उपस्थित किया जाता है, वह जिस जगत्‌में हम रहते हैं उसकी प्रकृतिके द्वारा प्रमाणित नहीं होता। हमारा यह संघर्षात्मक तथा प्रयासमय जगत् उग्र, भयावह विनाश-कारी तथा भक्षक जगत् है जिसमें जीवनका अस्तित्व संशयग्रस्त है, तथा मनुष्यकी आत्मा और देह भारी संकटोंके बीच विचरण करती हैं, यह एक ऐसा जगत् है जिसमें आगे उठाये जानेवाले प्रत्येक कदमके द्वारा, हम चाहें या न चाहें, कोई चीज पददलित या छिन्न-भिन्न हो जाती है, जिसमें जीवनका प्रत्येक श्वास मृत्युका भी श्वास है। जो कुछ भी हमें अशुभ या भीषण प्रतीत होता है उस सबकी जिम्मेवारी एक अर्द्ध-सर्वशक्तिमान् शैतानके कंधोंपर डाल देना या उसे प्रकृतिका अंग कहकर एक ओर रख देना और इस प्रकार जगत्-प्रकृति तथा ईश्वर-प्रकृतिमे अलंघ्य विरोध खड़ा कर देना, मानों प्रकृति ईश्वरसे स्वतंत्र हो, अथवा उस सबकी जिम्मेवारी मनुष्य तथा उसके पापोंपर लाद देना मानों इस जगत्‌की रचनामें उसकी आवाजका बड़ा भारी महत्व हो या वह ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध कोई एक भी चीज रच सकता हो,—ये सब ऐसी युक्तियां हैं जो भद्दे ढंगसे सांत्वना देनेवाली है तथा भारतकी धार्मिक विचारधाराने जिनकी शरण कभी नही ली। हमें सत्यपर, आमने-सामने, साहसके साथ दृष्टि-पात करना होगा और देखना होगा कि परमेश्वरने ही, और किसीने नही, अपनी सत्ताके अदर इस जगत्‌का निर्माण किया है और उन्होंने इसे इस प्रकारका ही बनाया है। हमें देखना होगा कि अपनी संतानोंको निगलनेवाली प्रकृति, प्राणियोंके जीवनोंको हड़प जानेवाला काल, अटल तथा सार्वभौम मृत्यु, तथा मनुष्य और

प्रकृतिमें निहित हिंसक रुद्र शक्तियां भी, अपने एक अन्यतम वैश्व रूपमें, वह परमोच्च ईश्वर ही है। हमें देखना होगा कि वे उदार तथा मुक्तहस्त स्रष्टा तथा सर्वसहायक, शक्तिमान् और दयालु जगत्पालक ईश्वर ही भक्षक तथा संहारक ईश्वर भी हैं। दुःख-ताप और अशिवकी शय्यापर शिकंजोंसे कसे हुए हम जो यंत्रणा भोग रहे हैं वह भी उतना ही उनका स्पर्श है जितना कि सुख-आनंद और माधुर्य। जब हम पूर्ण एकत्वकी आंखसे देखते तथा अपनी सत्ताकी गहराइयोंमें इस सत्यको अनुभव करते हैं केवल तभी हम उस छद्मरूपके पीछे भी आनंदमय परमेश्वरकी शांत और सुंदर मुखछवि पूर्ण रूपसे निहार सकते हैं और हमारी त्रुटियोंकी परीक्षा करनेवाले इस स्पर्शमें भी मनुष्यकी आत्माके सखा और निर्माताका स्पर्श पूर्णतया अनुभव कर सकते हैं। लोकोंमें जो असामंजस्य हैं वे ईश्वरके ही असामंजस्य हैं और उन्हें स्वीकार करके तथा उनमेंसे होकर आगे बढ़ते हुए ही हम उनके परम सामंजस्यकी महत्तर सुरसंगतियोंतक तथा उनके विश्वातीत और विश्वगत आनंदकी ऊंचाइयों और हर्षस्पंदित विशालताओंतक पहुंच सकते हैं।

गीताने जो समस्या उठायी है तथा जो समाधान दिया है वे विश्व-पुरुषके दर्शनके इसी स्वरूपकी मांग करते हैं। वह उस महान् युद्ध, विनाश और जन-संहारकी समस्या है जिसे सर्व-परिचालक संकल्पने जन्म दिया है और जिसमें सनातन अवतार स्वयमेव रणनायकके सारथि बनकर उतरे हैं। विश्वरूपके दर्शन करनेवाला ही स्वयं नायक है, वही मनुष्यकी संघर्षशील आत्माका प्रतिनिधि है जिसे अपने विकासमें बाधा पहुंचानेवाली क्रूर तथा अत्या-

चारी शक्तियोंका विध्वंस करना है और इस प्रकार सत्ताके उच्च-तर सद्धर्म तथा श्रेष्ठतर विधानके राज्यकी प्रतिष्ठा और उपभोग करना है। उसके सामने एक ऐसा महासंकट है जिसमें भाई-भाई एक दूसरेपर प्रहार करेंगे, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र विध्वस्त हो जायंगे और ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्दैववश स्वयं समाज भी संकट तथा अराजकताके गर्तमें जा गिरेगा। उस संकटके घोर रूपसे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह पीछे हट आया है, अपने दैव-निर्दिष्ट कार्यसे इन्कार कर दिया है, और अपने दिव्य सखा तथा गुरुसे प्रश्न किया है कि क्यों वे उसे ऐसे घोर कर्ममें नियुक्त कर रहे हैं, कि **कर्मणि घोरे मां नियोजयसि**। तब उसे यह बताया गया है कि जो कोई भी कर्म वह करे उसके दृश्यमान स्वरूपसे उसे व्यक्तिगत रूपमें कैसे ऊपर उठना होगा, तथा कैसे यह देखना होगा कि कर्त्री शक्ति प्रकृति ही कार्यकी करनेवाली है, उसकी अपनी प्राकृतिक सत्ता एक यंत्र है और ईश्वर प्रकृति तथा कर्मोंके स्वामी हैं जिनके प्रति उसे अपने कर्मोंको बिना किसी कामना या स्वार्थपरताके यज्ञ-रूपमें अर्पित करना होगा। उसे यह भी बताया जा चुका है कि भगवान् इन सब चीजोंसे ऊपर तथा अलिप्त होते हुए भी मनुष्य और प्रकृति तथा उनके कार्योंके अंदर अपने-आपको व्यक्त करते है और यह सब कुछ इस दिव्य अभिव्यक्तिके लय-तालके अंदर ही एक गति है। परंतु अब, जब कि उसे इस सत्यके मूर्त्तिमंत रूपका साक्षात्कार कराया जाता है, उसके अंदर वह त्रास तथा संहारके इस रूपको भागवत माहात्म्यकी प्रतिमूर्तिके कारण परिवर्द्धित देखता है और भयभीत हो उठता है तथा उसे सह नहीं सकता। कारण, सर्वात्माको अपने-आपको प्रकृतिके

अंदर प्रकट करना ही क्यों चाहिये ? यह मर्त्य सत्ता जो कि एक सृष्टिकारी तथा सर्वग्रासी ज्वाला है—इसका अभिप्राय क्या है, इस विश्वव्यापी संघर्ष तथा इन सतत विपत्संकुल सृष्टिचक्रोंका और प्राणियोंके इन प्रयास, व्यथा, वेदना तथा विनाशका क्या अभिप्राय है ? यह पुरातन प्रश्न पूछता है तथा सनातन प्रार्थनाको उच्छ्वसित करता है, "कृपा करके मुझे बताइये कि आप कौन हैं जो इस उग्र रूपमें हमारे सामने आते हैं। मैं जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं—आप जो आदि कालसे चले आ रहे हैं, क्योंकि मैं आपके कार्योंका मूल संकल्प नहीं जानता। प्रसन्न होइये।"

भगवान् उत्तर देते हैं कि संहार ही मेरे कार्योंका मूल संकल्प है जिसे लेकर मैं यहां कुरुक्षेत्रके इस मैदानमें, धर्मको कार्यान्वित करनेके इस क्षेत्रमें, मानव कर्मके इस क्षेत्रमें खड़ा हूं,—'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इस वर्णनात्मक पदावलिका प्रतीकात्मक अनुवाद हम 'मानवके कर्मक्षेत्रमें' ऐसा कर सकते हैं, यह एक विश्वव्यापी संहार है जो कालपुरुषकी प्रक्रियामें आ उपस्थित हुआ है। मेरा एक भविष्यदर्शी प्रयोजन है जो अमोघ रूपसे चरितार्थ होता है और किसी मनुष्यका उसमें भाग लेना या न लेना उसे रोक नहीं सकता, बदल या पलट नहीं सकता; कोई भी कार्य मनुष्यके द्वारा इस भूतलपर किये जा सकनेसे पहले मेरे द्वारा अपने संकल्पकी सनातन दृष्टिमें संपन्न किया जाता है। कालके रूपमें मुझे पुरानी रचनाओंको नष्ट करना तथा नये, महान् और श्रेष्ठ राज्यका निर्माण करना है। तुझे दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञाके मानवीय यंत्रके रूपमें इस युद्धमें, जिसे तू रोक नहीं सकता, सत्यके लिये लड़ना तथा

इसके विरोधियोंका वध करना और उन्हे जीतना है। तुझे, प्रकृतिके अंदर विद्यमान मानव आत्माको भी, प्रकृतिमे मेरे दिये हुए फलका, सत्य और न्यायके साम्राज्यका उपभोग करना होगा। तेरे लिये इतना ही पर्याप्त होना चाहिये,—अपनी आत्मामें ईश्वर-के साथ एक होना, उनका आदेश प्राप्त करना, उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करना, शांत भावसे एक परम प्रयोजनको जगत्मे पूर्ण हुए देखना। "मैं लोकोंका क्षय करनेवाला उत्थित और प्रवृद्ध काल हू जिसकी कार्यप्रवृत्ति यहा राष्ट्रोंका संहार करना है। तेरे विना भी ये सव योद्धा, जो विरोधी सेनाओमे खडे है, जीवित नहीं रहेगे। इसलिये उठ, यश लाभ कर, अपने शत्रुओंको जीत-कर समृद्ध राज्यका उपभोग कर। मेरे द्वारा, और किसीके द्वारा नहीं, ये पहलेसे ही मारे जा चुके है, हे सव्यसाची! तू निमित्त-मात्र बन। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर योद्धाओं-का, जिनका मेरे द्वारा वध किया जा चुका है, वध कर; दुःखी और व्यथित मत हो। युद्ध कर, तू युद्धमे शत्रुओपर विजय लाभ करेगा।" उस महान् तथा घोर कर्मके फलके संबधमें प्रतिज्ञा और भविष्यवाणी कर दी गयी है, पर व्यक्तिके द्वारा आकांक्षित फलके रूपमें नही,—क्योंकि उसके प्रति कोई आसक्ति नही होनी चाहिये,—बल्कि भगवदिच्छाके परिणामके रूपमे, संपन्न किये जाने योग्य कार्यके यश और सफलताके रूपमें, भगवान्के द्वारा अपनी विभूतिके अंदर अपने-आपको ही प्रदान किये जाने-वाले यशके रूपमें। इस प्रकार जगत्-सग्रामके नायकको कर्मके लिये अंतिम तथा अलंघ्य आदेश दे दिया गया है।

ये काल तथा विश्व-पुरुषके रूप में व्यक्त कालातीत ही हैं

जिनसे कर्मका आदेश प्रादुर्भूत हुआ है। कारण, निश्चय ही जब भगवान् यह कहते हैं कि "मैं भूतोंका क्षय करनेवाला काल हूं", तब उनका अभिप्राय यह नहीं है कि वे केवल काल-पुरुष हैं या काल-पुरुषका संपूर्ण मारतत्त्व संहार ही है, वरन् यह कि उनके कार्योंकी वर्तमान प्रवृत्ति यही है। संहार सदा ही सृष्टिके साथ कदम मिलाकर चलनेवाला या पर्यायसे आनेवाला तत्त्व है और संहार करके तथा नये सिरेसे रचना करके ही जीवनके स्वामी जगत्के प्रतिपालनका अपना सुदीर्घ कार्य संपन्न करते हैं। और फिर, संहार प्रगतिकी पहली शर्त है। आंतरिक दृष्टिसे, जो आदमी अपनी निम्नतर स्व-रचनाओंको नहीं मिटाता वह महत्तर जीवनकी ओर नहीं उठ सकता। बाहरी दृष्टिसे भी, जो राष्ट्र, समाज या जाति अपने जीवनके अतीत रूपोंको नष्ट और परि-वर्तित करनेसे चिरकालतक कतराती रहती है वह स्वयं ही नष्ट हो जाती है, गल-सड़कर ध्वस्त हो जाती है और उसके ध्वंसावशेष-मेंसे अन्य राष्ट्र, समाज और जातियां निर्मित होती हैं। पुराने महाकाय जीवोंका संहार करके ही मनुष्यने भूतलपर अपने लिये स्थान बनाया। असुरोंके विनाशके द्वारा ही देवता संसारमें दिव्य नियमके चक्रकी अविच्छिन्नताकी रक्षा करते हैं। जो कोई भी युद्ध और संहारके इस नियमसे छुटकारा पानेके लिये समयसे पूर्व यत्न करता है वह विश्व-पुरुषके महत्तर संकल्पके विरुद्ध एक व्यर्थकी चेष्टा करता है। जो कोई अपने निम्नतर अंगोंकी दुर्बलताके कारण उससे पीठ फेरता है, जैसा कि अर्जुनने आरंभमें किया, वह सच्ची वीरताको नहीं बल्कि प्रकृति, कर्म तथा जीवनके कठोरतर सत्यों-का सामना करनेके लिये आध्यात्मिक साहसके अभावको ही दिखला

रहा है। अतएव हम देखते हैं कि अर्जुनकी पराङ्मुखताकी यह कहकर निंदा की गयी कि यह हृदयकी क्षुद्र और मिथ्या 'कृपा' है, अकीर्तिकर, अनार्य तथा अस्वर्ग्य दुर्बलता है तथा आत्माकी क्लीवता है, क्लैब्यं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्। युद्धके नियमका अतिक्रमण तो मनुष्य अपनी अमरताके महत्तर नियमको उपलब्ध करके ही कर सकता है। इस संसारमें ऐसे लोग हैं जो इसे वहां खोजते हैं जहां यह सदैव विद्यमान है और जहां इसे प्रथमतः प्राप्त करना होता है, अर्थात् शुद्ध आत्माके उच्चतर स्तरोंमें, और अतएव वे इसे उपलब्ध करनेके लिये मृत्युके नियमद्वारा शासित जगत्‌से किनारा खींच लेते हैं। यह एक वैयक्तिक समाधान है जिससे मनुष्यजाति तथा संसारके लिये कोई अंतर नहीं पड़ता या सच पूछो तो केवल इतना ही अंतर पड़ता है कि वे उस अपरिमित आध्यात्मिक शक्तिसे वंचित हो जाते हैं जो उन्हें उनके विकासकी कष्टप्रद यात्रामें आगे बढ़नेके लिये सहायता पहुंचा सकती थी।

तो फिर जब नरश्रेष्ठ, दिव्य कर्मी, वैश्व संकल्पकी उन्मुक्त प्रणालिका अर्जुन विश्व-पुरुषको किसी बड़े भारी विप्लवकी ओर मुड़े हुए, राष्ट्रोंके विनाशके लिये उत्थित तथा प्रवृद्ध संहारक काल-के रूपमें अपनी आंखोंके सामने मूर्तिमंत देखता है और जब वह अपने-आपको भौतिक शस्त्रास्त्रोंके द्वारा युद्ध करने या मनुष्योंका नेतृत्व एवं मार्गदर्शन या प्रेरणा करनेवालेके रूपमें अग्रपंक्तिमें खड़े हुए पाता है, जैसा कि वह अपने स्वभावकी वास्तविक प्रवृत्ति एवं अपनी अंतःस्थ शक्तिके कारण किये बिना नहीं रह सकता, स्वभावजेन स्वेन कर्मणा, तब भला उसे क्या करना होगा? क्या उसे युद्धसे विरत होना, चुपचाप बैठ जाना तथा तटस्थताके द्वारा

विरोध करना होगा? परंतु विरतिसे कुछ नहीं बनेगा, संहारकारी संकल्पकी परिपूर्तिमें कोई बाधा नही पड़ेगी, बल्कि इसमें जो छिद्र पैदा होंगे उनके कारण विशृंखलता और भी बढ़ेगी। भगवान् कहते है कि तेरे बिना भी, ऋतेऽपि त्वाम्, संहारका मेरा सकल्प पूरा होकर रहेगा। यदि अर्जुन युद्धका त्याग कर देता अथवा यदि कुरुक्षेत्रका युद्ध न भी लड़ा जाता, तो वह त्याग भावी अनिवार्य संकट, गोलमाल तथा विनाशको केवल टाल देता तथा उसे और भी बुरा बना देता। क्योंकि, ये चीजे कोई आकस्मिक घटना नही होती, बल्कि एक ऐसा अपरिहार्य बीज होती है जो बोया जा चुका है तथा एक ऐसी फसल जिसे काटना ही होगा। जिन्होने आंधीके बीज बोये है उन्हे बवंडरकी फसल काटनी ही होगी। असलमें उसकी अपनी प्रकृति भी युद्धका कोई वास्तविक परित्याग नही करने देगी, **प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**। अंतमें भगवान् गुरु अर्जुनसे कहते है कि "अपने अहंकारका आश्रय लेकर तू जो यूं सोचता है कि मैं युद्ध नही करूंगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या है: प्रकृति तुझे तेरे कार्यमें नियुक्त करेगी। जो कार्य तू मोहवश नहीं करना चाहता वही तू अपने स्वभावजनित कर्मसे बंधा हुआ, विवश होकर करेगा।" तो फिर क्या उसे युद्धको कोई और ही मोड देना होगा, स्थूल शस्त्रास्त्रोंकी जगह किसी प्रकारके आत्म-बल, आध्यात्मिक पद्धति एवं शक्तिका प्रयोग करना होगा? पर वह तो उसी कार्यका केवल एक अन्य रूप है; संहार तो तब भी होगा, और उसे दिया गया मोड भी वह नहीं होगा जिसे व्यक्तिगत अहंभाव चाहता है बल्कि वह होगा जिसे विश्व-पुरुष चाहते है। यहांतक कि, संहारकी शक्ति इस नयी शक्तिके

सहारे पुष्ट हो सकती है, अधिक भीषण वेग प्राप्त कर सकती है तथा काली प्रादुर्भूत होकर अपने अट्टहासके घोरतर निनादसे जगत्‌को भर दे सकती है। जबतक मनुष्यका हृदय शांतिका अधिकारी नहीं बनता तबतक सच्ची शांति नहीं स्थापित हो सकती; जबतक रुद्रका ऋण नहीं चुकाया जाता, विष्णुका विधान प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता। तब क्या उसे युद्धसे किनारा कसकर अबतक अविकसित मानवजातिको प्रेम तथा एकताके नियमका उपदेश देना होगा? इस संसारमें प्रेम और एकत्वके नियमके शिक्षकोंका होना आवश्यक है, क्योंकि अंतिम उद्धार इस ढंगसे ही होगा। परंतु जबतक मनुष्यके अंदर अवस्थित काल-पुरुष तैयार नहीं हो जाता तबतक आतरिक एवं चरम सत्य बाह्य एवं तात्कालिक सत्यपर प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता। ईसा और बुद्ध आये और चले गये, परन्तु अबतक भी संसार रुद्रकी ही हथेलीमें है। इस बीच अहंभावपूर्ण शक्तिसे अत्यधिक लाभ उठानेवाली शक्तियों तथा उनके दासोंके द्वारा व्यथित तथा उत्पीड़ित मानवजातिका आगे बढ़नेके लिये उग्र प्रयास संघर्षके वीरनायककी तलवार तथा इसके पैगंबरकी वाणीके लिये ही अलख जगा रहा है।

अर्जुनके लिये नियत सर्वोच्च पथ यह है कि वह निरहंकार होकर, जिस कार्यको वह भगवान्‌के द्वारा आदिष्ट अनुभव करता है उसका मानवीय निमित्त तथा यंत्र बनकर, **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**, अपने तथा मनुष्यके अंदर अवस्थित ईश्वरका सतत अनुस्मरण करते हुए, **मामनुस्मरन्**, तथा अपनी प्रकृतिके प्रभुके द्वारा अपने लिये नियत किये हुए किन्हीं भी तरीकोंसे ईश्वरकी इच्छा-

को कार्य-रूपमें परिणत करे। उसे अपने अंदर वैयक्तिक द्वेष, क्रोध, घृणा और अहंमय कामना एवं लालसाको नहीं पोसना होगा, उग्र असुरकी भांति कलहके लिये उतावला नहीं होना होगा, न हिंसा और संहारके लिये तरसना ही होगा, बल्कि उसे अपना लोकसंग्रहका कार्य करना होगा, लोकसंग्रहाय। कर्मसे परे उसे उसकी ओर दृष्टि रखनी होगी जिसकी ओर वह ले जाता है तथा जिसके लिये वह युद्ध कर रहा है। क्योंकि, काल-पुरुष जगदीश्वर संहारके लिये संहार नहीं करते, बल्कि विकासकी चक्रात्मक प्रक्रियामें एक उत्कृष्टतर राज्य तथा वृद्धिशील अभिव्यक्ति, राज्यं समृद्धम्, के हित रास्ता साफ करनेके लिये ही करते हैं। उसे संघर्षकी महानता तथा विजयके गौरवको,—यदि आवश्यक हो तो, पराजयका छद्मरूप धारण करके आनेवाली विजयके गौरवको,—उस गंभीरतर अर्थमें ग्रहण करना होगा जिसे स्थूल मन नहीं देख पाता, और फिर, अपने समृद्ध राज्यका उपभोग करते हुए, मनुष्यमात्रका भी नेतृत्व करना होगा। संहारकर्ताकी आकृतिसे भयभीत न होकर उसे उसके अंदर उस सनातन आत्माको देखना होगा जो इन सब नाशवान् शरीरोंमें अविनाशी है, और साथ ही उस आकृतिके पीछे मनुष्यके सारथि एवं नेता, सर्वभूतसुहृत्के, सुहृदं सर्वभूतानाम्, मुखमंडलको देखना होगा। इस विकराल विश्व-रूपको जब वह एक बार देख लेता तथा अंगीकार कर लेता है तो शेष सारा अध्याय इसी आश्वासनदायी सत्यके निरूपणकी ओर मोड़ दिया जाता है; अंतमें यह सनातनकी एक सुपरिचित मुखछवि तथा विग्रहको प्रकाशित करता है।

११

विश्वपुरुष-दर्शन[1]

दोहरा रूप

जब कि इस दर्शनके विकराल रूपका प्रभाव अभी उसपर छाया हुआ था तब भी भगवान्‌का कथन समाप्त होनेके बाद अर्जुनने जो प्रथम उद्‌गार प्रकट किये वे मृत्युकी इस मुखाकृति तथा इस संहारके पीछे विद्यमान एक महत्तर उद्धारक तथा आश्वासक सद्वस्तुकी एक ओजस्वी व्याख्या करते हैं। वह कहता है, "हे हृषीकेश, संसार आपके नामसे जो हर्षित होता है और उसमें आनंद लेता है वह समुचित तथा उपयुक्त ही है। राक्षस आपसे त्रस्त होकर दिशा-विदिशाओंमें भाग रहे हैं और सिद्धसंघ भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करते हैं। हे महात्मन्, वे आपकी क्यों न पूजा करें? क्योंकि, आप तो आदि स्रष्टा तथा कर्मोंके आदि कर्त्ता हैं और जगदुत्पादक ब्रह्मासे भी अधिक महान् हैं। हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् तथा असत् जो कुछ भी है वह आप ही हैं और जो परतम है वह भी आप

---

[1] गीता, ११, ३५-५५।

है। आप पुराण पुरुष, आदि तथा मूल देव हैं और इस विश्वके परम विश्राम-स्थल हैं; आप ही ज्ञाता और ज्ञेय हैं, परम धाम हैं, हे अनंतरूप, यह विश्व आपने ही विस्तारित किया है। आप यम, वायु, अग्नि, सोम, वरुण, प्रजापति, प्राणिमात्रके पिता हैं और आप ही प्रपितामह भी हैं। आपको सहस्र वार नमस्कार हो, पुनः नमस्कार, पुनः पुनः नमस्कार, आगे और पीछेसे तथा सव ओरसे नमस्कार हो, क्योंकि आप ही प्रत्येक वस्तु हैं तथा जो कुछ भी है वह सव आप ही हैं। अनंत वीर्य और अमित कर्मशक्तिवाले आप 'सव'के अदर व्याप्त हैं और आप ही 'सव' हैं।"

परंतु ये परमोच्च विश्व-पुरुष यहां उसके सामने मानव आकारमें, मर्त्य शरीरमें, भागवत मनुष्य, देहधारी भगवान् एवं अवतारके रूपमें निवास करते आये हैं और अवतक वह उन्हे नहीं जान पाया है। उसने केवल उनकी मानवताको ही देखा है और भगवान्के साथ केवल मानव प्राणीकी तरह ही व्यवहार किया है। वह पार्थिव आवरणको भेदकर उन परमेश्वरतक नही पहुचा है जिनका मानवता आधार और प्रतीक थी, और अव वह उन परमात्मासे प्रार्थना करता है कि मेरे दृष्टिशून्य प्रमाद तथा उपेक्षा-पूर्ण अज्ञानके लिये मुझे क्षमा कीजिये। "आपको अपना केवल मानवीय सखा तथा साथी समझकर, 'हे कृष्ण, ये यादव, हे सखा' इस प्रकार सवोधित करते हुए, आपकी इस महिमाको न जानते हुए मैंने जोशमें आकर, विना सोचे-विचारे, उपेक्षापूर्ण प्रमाद या प्रणयके कारण जो कुछ कहा है उस सवके लिये, तथा शयन, आसन या भोजनके समय, अकेले या आपकी उपस्थितिमे मैंने

हंसी-मजाकमें आपका जो निरादर किया है उसके लिये, हे अप्रमेय, मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूं। आप इस सम्पूर्ण चराचर जगत्के पिता हैं; आप पूज्य हैं तथा सत्कारके परम पावन पात्र हैं। हे अप्रतिम प्रभावशाली देव! तीनों लोकोंमें आपके तुल्य कोई नहीं है, फिर आपसे महान् तो भला कोई हो ही कैसे सकता है? अतएव हे स्तुत्य प्रभो, मैं आपके आगे शीश नवाता हूं, साष्टांग प्रणाम करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि कृपा करके प्रसन्न होइये। हे देव, आपको मेरी बातें उसी प्रकार सहन कर लेनी चाहियें जिस प्रकार पिता अपने पुत्रकी, मित्र अपने मित्र तथा सहचरकी और प्रेमी अपने प्रियकी बातें सहता है। मैंने वह रूप देखा है जिसे पहले कभी किसीने नहीं देखा था और इससे मैं आनंदित हो रहा हूं, परंतु मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है। हे देव, मुझे वह अपना अन्य रूप दिखाइये। मैं आपको पहलेकी ही भांति मुकुटमंडित तथा गदाचक्रधारी देखना चाहता हूं। हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्ते, अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिये।"

इन प्रथम उद्गारोंसे यह सुझाव सामने आता है कि इन भयावह रूपोंके पीछेका गुप्त सत्य एक पुनः आश्वासन देनेवाला, प्रोत्साहन और आनंद देनेवाला सत्य है। उसमें कोई ऐसी चीज है जिसके कारण जगत्का हृदय भगवान्के नाम तथा सामीप्यमें हर्ष तथा आह्लाद अनुभव करता है। उस वस्तुकी गभीर अनुभूति ही हमें कालीकी घोर आकृतिमें मांकी मुखछविके दर्शन कराती है और यहांतक कि संहारके बीचमें भी सर्वभूतसुहृत्की रक्षक बाहुओं, अनिष्टके बीच भी एक शुद्ध निर्विकार दयालुताकी

उपस्थिति तथा मृत्युके मध्य भी अमृतत्वके स्वामीका अनुभव कराती है। दिव्य कर्मके अधीश्वरके सम्मुख सदा, अंधकारकी भीषण दानवीय शक्तियां, ध्वस्त, पराजित एवं अभिभूत होकर भाग खड़ी होती हैं। परंतु सिद्ध, अर्थात् पूर्णत्व और सिद्धिको प्राप्त किये हुए लोग जो अविनाशी परमेश्वरके नामोंको जानते तथा गाते हैं तथा उनकी सत्ताके सत्यमें निवास करते हैं, उनके प्रत्येक रूपके सम्मुख शीश झुकाते हैं और जानते हैं कि प्रत्येक रूप जिनकी मूर्ति और प्रतीक है। जो नष्ट करने योग्य हैं, अशुभ, अज्ञान, निशाचर तथा राक्षसी शक्तियां, उन्हें छोड़कर और किसी भी चीजको वास्तवमें डरनेकी आवश्यकता नहीं। उग्र देव रुद्रकी समस्त गतिविधि और कार्य-प्रवृत्तिका लक्ष्य संसिद्धि, दिव्य ज्योति और पूर्णता ही होता है।

कारण, ये परमात्मा, ये भगवान् केवल बाह्य रूपमें ही संहारक हैं, अर्थात् उन सब सांत रूपोंको नष्ट करनेवाले काल हैं: पर अपने-आपमें ये अनंत हैं, वैश्व देवताओंके ईश हैं, जिनके अंदर जगत् तथा उसका समस्त कर्म सुरक्षित रूपसे अधिष्ठित हैं, ये आदि तथा सदा उत्पत्ति करनेवाले स्रष्टा हैं, सृष्टिकारिणी शक्तिके उस रूपसे अधिक महान् हैं जिसे ब्रह्मा कहते हैं और जिसे, ये वस्तुओंके आकारके अंदर अपने त्रैत, अर्थात् स्थिति और संहारके संतुलनद्वारा शबलित सृष्टि, के एक पक्षके रूपमें हमारे सामने प्रकाशित करते हैं। वास्तविक दिव्य सृष्टि तो नित्य है; यह वह 'अनंत' ही है जो सांत वस्तुओंमें नित्य रूपसे अभिव्यक्त है, परमात्मा ही है जो अपने-आपको आत्माओंकी अगणित अनंततामें, उनके कार्योंकी चमत्कृति तथा उनके आकारोंकी सुषमामें सदा ही

छिपाते तथा प्रकट करते रहते हैं। वे सनातन अक्षर हैं; सत् और असत् तथा व्यक्त और अव्यक्तका, उन वस्तुओंका जो थीं और अब नहीं प्रतीत होतीं, जो हैं और जिनका नष्ट होना दैव-निर्दिष्ट प्रतीत होता है, जो होंगी और फिर नष्ट हो जायगी उन सबका द्वंद्वात्मक रूप वे ही हैं। परंतु इन सबसे परे वे जो कुछ हैं वह 'तत्' या 'परम' है जो सब परिवर्तनशील वस्तुओंको उस कालकी, जिसके लिये सब कुछ सदैव वर्तमान है, अखंड नित्यतामें धारण करता है। वे अपने अक्षर आत्माको उस कालातीत नित्यतामें धारण करते हैं जिसका काल और सृष्टि एक नित्य-विस्तारशील रूप है।

यह है उनका वह सत्य जिसमें सब कुछ समन्वित हो जाता है; सभी एककालीन तथा अन्योन्याश्रित सत्य सुसमंजस रूपमें इस एक वास्तविक सत्यसे उद्भूत होते हैं और सब मिलकर इस एकके ही बराबर होते हैं। यह उस परम आत्माका सत्य है जिसकी परा प्रकृतिसे यह जगत् निर्गत हुआ है जो कि उस अनंत-का ही एक हीनतर रूप है; उन पुराण पुरुषका सत्य है जो काल-के सुदीर्घ विवर्तनोंकी सदा ही अध्यक्षता करते हैं, उन आद्य देवा-धिदेवका सत्य है जिनकी देवता, मनुष्य और सब सजीव प्राणी संतानें, शक्तियां तथा आत्माएं हैं जिनका अस्तित्व उनकी सत्ताकी वास्तविकताके कारण आध्यात्मिक रूपमें उचित ठहरता है; उन ज्ञाताका सत्य है जो मनुष्यके अंदर अपना, जगत् तथा ईश्वरका ज्ञान विकसित करते हैं; समस्त ज्ञानके उन एकमात्र 'विषय'का सत्य है जो मनुष्यके हृदय, मन और आत्माके सम्मुख अपने-आप-को प्रकाशित करते हैं, जिससे हमारे ज्ञानका प्रत्येक नया प्रकट

होनेवाला रूप उन्हींका आंशिक प्राकट्य होता है और वह उनके उस सर्वोच्च प्राकट्यतक ले जाता है जिसके द्वारा उनका अंतरंग, गभीर तथा सर्वांगीण दर्शन एवं उपलब्धि होती है। यह उन उच्च तथा परम अक्षर पुरुषका सत्य है जो इस विश्वमें विद्यमान सभी सत्ताओंको उत्पन्न तथा धारण करते हैं और पुनः अपने अंदर समा लेते हैं। उन्होंने अपनी सत्ताके अंदर अपनी सर्वसमर्थ शक्तिके द्वारा, अपनी अंतहीन सर्जनकी अद्‌भुत आत्म-परिकल्पना, शक्ति एवं आनंदके द्वारा इस विश्वको विस्तारित किया है। सब कुछ उनके स्थूल-भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंकी अनतता ही है। लघुतमसे लेकर महत्तमतक सब-के-सब देवता वे स्वयं ही हैं, वे प्राणिमात्रके पिता हैं तथा सब उनकी संतति एवं प्रजा हैं। वे उन ब्रह्माके भी मूल हैं जो जीवोंकी इन विभिन्न जातियोंके दिव्य स्रष्टाओंके प्रथम पिता, प्रजापतिके पिता हैं। इस सत्यपर बार-बार आग्रह किया गया है। पुनः यह दुहराया गया है कि वे सर्व हैं, प्रत्यक वस्तु हैं, सर्वः। वे अनंत 'विराट्' सत् हैं और यहां विद्यमान प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वस्तु हैं, वह एकमात्र शक्ति तथा सत्ता हैं जो हममेंसे प्रत्येकके अदर निहित है, वह अनंत चित्-तपस् हैं जो इन अनेकानेक सत्ताओंमें अपने-आपको प्रकट करता है, गति और क्रियाका वह अपरिमेय संकल्प एवं महान् शक्ति है जो अपने-आपमेंसे ही कालके समस्त प्रवाहों तथा प्रकृतिगत आत्माकी सभी घटनाओंको निर्मित करती है।

और फिर, इस सत्यपर किये गये इस आग्रहसे, स्वभावतः ही, गीताकी विचारधारा मनुष्यके अंदर विद्यमान इस एक महान् देवकी उपस्थितिके विषयकी ओर मुड़ जाती है। यहां विश्वरूप-

दर्शन करनेवालेकी आत्मा तीन क्रमिक सुझावोंसे प्रभावित होती है। सर्वप्रथम, उसके चित्तमें यह विश्वास जम जाता है कि 'मनु' के इस पुत्रकी देहमें जो भूतलपर एक नश्वर प्राणीकी तरह उसके समीप विचरण करता था, उसके पास बैठता, एक ही पलंगपर उसके साथ लेटता, उसके साथ प्रीतिभोज करता था, हंसी-ठट्टे तथा असावधानतापूर्ण संभाषणका पात्र था और युद्ध, मंत्रणा तथा साधारण कार्योंका अभिनेता था, मरणधर्मा मनुष्यकी इस तनुमें बराबर ही कोई ऐसी चीज थी जो महान्, निगूड तथा अत्यंत मार्मिक थी, उसके अंदर थे परमेश्वर, अवतार, विराट् शक्ति, एकमेव सद्वस्तु, परमोच्च परात्पर पुरुप। इस गुह्य देवत्वके प्रति, जिसमें मनुष्य तथा उसकी जातिके सुदीर्घ विकासका समस्त मर्म लिपटा पडा है और जिससे संपूर्ण जगत्-सत्ता अपना अकथनीय महिमासे युक्त आभ्यंतरिक अर्थ प्राप्त करती है, वह अंध ही रहा था। केवल अब जाकर ही वह वैयक्तिक ढांचेमें विद्यमान विश्वात्माको, मानवताके रूपमें मूर्तिमंत भगवान् तथा प्रकृतिके इस प्रतीकके परात्पर अंतर्वासीको देखता है। केवल अब ही उसने इन सब प्रतीयमान पदार्थोंकी इस अतिगुरु, अनंत, अपरिमेय वास्तव सत्ताके, इस असीम विश्वरूपके दर्शन किये हैं जो प्रत्येक व्यष्टिगत रूपसे इतना परे है और फिर भी प्रत्येक व्यष्टिभूत पदार्थ जिसका निवास-धाम है। क्योंकि, वह महान् वास्तव सत्ता सम तथा अनंत है और व्यष्टि तथा विश्व दोनोंमें वह वही एक है। पहले-पहल उसे अपनी अंधता, इन भगवान्‌को केवल बाह्य मनुष्य समझते हुए उसी रूपमें इनके साथ व्यवहार करना, इनके साथ होनेवाले केवल मानसिक तथा

भौतिक संबंधको ही देखना वहां उपस्थित महामहिम देवके प्रति एक पाप प्रतीत होता है। कारण, वह पुरुष जिसे वह कृष्ण, यादव, सखा कहकर पुकारता था ये अपरिमेय-महिमामय, ये अप्रतिम-प्रभावशाली, सबमें अवस्थित एकमेव परमात्मा ही थे जिन-की ये सब प्रजाएं हैं। इन्हींको, आवरणकारी बाह्य मानवताको नहीं, अवजानन्ति मानुषीं तनुमाश्रितम्, उसे संभ्रम, समर्पण तथा सम्मानके साथ देखना चाहिये था।

परंतु उसके मनमें दूसरा सुझाव यह आता है कि मानवीय अभिव्यक्ति तथा मानवीय संबंधके रूपमें जो कुछ मूर्तिमंत था वह भी एक सत्य वस्तु है जो विराट्-पुरुषदर्शनके अति महान् स्वरूपके संग रहती है तथा उसे हमारे मनके लिये कुछ खर्व कर देती है। विश्वातीत तथा वैश्व रूपोंका भी साक्षात्कार करना होगा, क्योंकि ऐसे साक्षात्कारके विना मानवताकी सीमाओंको पार नहीं किया जा सकता। उस एकीकारक एकत्वमें सब कुछको समाविष्ट करना होगा। परंतु केवल अपने-आपमें वह एकत्व विश्वातीत आत्मा और अपरा प्रकृतिके अंदर बंधी और घिरी हुई इस अंत-रात्माके बीच बड़ी भारी खाई खोद देगा। अपनी अन्यून प्रभासे युक्त अनंत उपस्थिति सीमित, व्यष्टिरूप तथा प्रकृतिगत मनुष्य-की पृथक्त्वमूलक क्षुद्रताके लिये अतीव अभिभूतकारी होगी। एक जोड़नेवाली कड़ीकी जरूरत है जिसके द्वारा वह इन विराट् पर-मेश्वरको अपनी वैयक्तिक एवं प्राकृतिक सत्तामें, अपने समीप स्थित देख सके, केवल इस रूपमें नहीं कि उसकी संपूर्ण सत्ताको अपनी विश्वव्यापी अपरिमेय शक्तिके द्वारा नियंत्रित करनेके लिये वे सर्वशक्तिमान् रूपमें उपस्थित हैं, बल्कि घनिष्ठ वैयक्तिक संबंध-

के द्वारा उसे आश्रय देने तथा एकत्वकी ओर उठा ले जानेके लिये मानव-रूपमें भी मूर्तिमंत है। जिस उपासनाके द्वारा सांत प्राणी अनंतके सामने नमन करता है वह उस समय अपना समस्त माधुर्य प्राप्त कर लेती है तथा सख्य और एकत्वके घनिष्ठतम सत्यके निकट पहुंच जाती है जब वह गभीर होकर उस अधिक घनिष्ठ उपासनाका रूप धारण कर लेती है जो ईश्वरके पितृभाव एवं सख्य-भावमें तथा परमात्मा और हमारी मानव आत्मा एवं प्रकृति-के बीच होनेवाले आकर्षक प्रेमके भावमे निवास करती है। क्योंकि, भगवान् मानव आत्मा और देहमे वास करते है; वे मानव-मन तथा आकारको अपने चारो ओर विरचित करते तथा वस्त्र-की न्याई धारण करते है। वे उन मानवीय संबंधोको ग्रहण करते है जिन्हे आत्मा मर्त्य शरीरमे स्थापित करती है और वे संबंध ईश्वरमें अपना निजी पूर्णतम अर्थ एवं महत्तम अनुभूति और चरितार्थता प्राप्त करते है। यह वैष्णव भक्ति है जिसका बीज यहां गीताके शब्दोंमें निहित है पर जिसने आगे चलकर अधिक गभीर, उल्लासमय और अर्थपूर्ण विस्तार प्राप्त कर लिया है।

इस दूसरे सुझावसे तुरंत ही एक तीसरा सुझाव उत्पन्न होता है। विश्वातीत और विश्वव्यापी पुरुषका रूप मुक्त आत्माकी सामर्थ्यके लिये एक महान्, उत्साहप्रद तथा शक्तिदायक रूप है, शक्तिका स्रोत है, सम तथा उदात्त करनेवाला और सबका औचित्य सिद्ध करनेवाला दिव्य दर्शन है; परंतु सामान्य मनुष्यके लिये यह अभिभूतकारी, भयजनक तथा वर्णनातीत है। और फिर आश्वासन देनेवाला सत्य, ज्ञात हो जानेपर भी, सर्वसंहारक कालके भीषण तथा शक्तिशाली रूपके और अगम्य संकल्प तथा विशाल अप्रमेय

गहन क्रियाके पीछे कठिनाईसे ही समझमें आता है। परंतु दिव्य नारायणका एक मध्यस्थता करनेवाला कृपालु रूप भी है, उन नारायणका जो मनुष्यके इतने निकट तथा उसके अंदर विद्यमान ईश्वर हैं, युद्ध और यात्राके सारथि हैं, सहायक-शक्ति-स्वरूप चार भुजाओंसे युक्त हैं, परमेश्वरके मानव-भावापन्न प्रतीक हैं, सहस्र-बाहु विराट् पुरुष नहीं। इस मध्यस्थताकारी रूपको ही हमें नित्य-निरंतर अपने अवलंबके रूपमें अपने सम्मुख रखना होगा। क्योंकि, भगवान्‌का यह नारायण-रूप आश्वासनदायी सत्यका प्रतीक है। यह उस बृहत् आध्यात्मिक हर्षको घनिष्ठ, प्रत्यक्ष, जीवंत और गोचर बना देता है जिसमें मनुष्यकी आभ्यंतरिक आत्मा और उसके जीवनके लिये वैश्व व्यापार, अपनी समस्त विशाल चक्राकार गति, ह्रास तथा विकासके पीछे, सर्वोच्च रूपसे, पर्यवसित होते हैं और जो उनकी अत्यद्‌भुत मंगलमय परिणति है। इस मानवभावापन्न देहधारी आत्माके लिये उनकी परिणति यहां मिलन, घनिष्ठता, मनुष्य और ईश्वरके सतत सख्यका रूप धारण कर लेती है, अर्थात् मनुष्य जगत्‌में ईश्वरके लिये जीवन यापन करता है और ईश्वर उसके भीतर निवास करते हैं तथा इस दुर्बोध्य जगत्-प्रक्रियाको उसके अंतर्निहित अपने निजी दिव्य उद्देश्यों-के लिये उपयोगमें लाते हैं। इस परिणतिसे परे सनातनके किये हुए चरम रूपांतरोंके साथ एक और भी आश्चर्यमय एकत्व तथा उनमें अंतर्निवास है।

अर्जुनकी प्रार्थनाके उत्तरमें परमेश्वर अपना सामान्य नारायण रूप, स्वकं रूपम्, प्रसाद, प्रेम, माधुर्य और सौंदर्यसे संपन्न अभीष्ट रूप पुनः धारण करते हैं। परंतु पहले वे उस दूसरे शक्तिशाली

रूपकी, जिसे वे छिपानेवाले ही हैं, अमित महिमा उद्घोषित करते हैं। वे उसे बताते हैं कि "यह रूप जो तू अब देख रहा है मेरा परम रूप है, तेजोमय, आद्य विश्वरूप है जिसे मनुष्यमें तेरे सिवा और किसीने अभीतक नही देखा। अपने आत्म-योगसे मैंने तुझे यह दिखाया है। क्योंकि, यह मेरे वास्तविक आत्मा एवं अध्यात्मसत्ताका रूप है, यह जागतिक सत्ताके रूपमें मूर्त्तिमत साक्षात् पुरुषोत्तम ही है। मेरे साथ पूर्ण रूपसे योगयुक्त आत्मा इसे स्नायविक अंगोंके किसी प्रकारके कंपन या मनके किसी भी भ्रम एवं व्यामोहके विना देखती है, क्योंकि वह इसकी बाह्य आकृतिमें विद्यमान भीषण तथा अभिभूतकारी तत्त्वको ही नही बल्कि इसके उच्च तथा आश्वासक अर्थको भी देखती है। और तुझे भी इसे उसी प्रकार विना भयके, बिना मनके मूढ़ भाव तथा इंद्रिय आदि अवयवोंके अवसादके देखना चाहिये, पर, क्योंकि तेरी निम्नतर प्रकृति इसे उस उच्च साहस तथा शांतिके साथ देखनेके लिये अभी तैयार नही है, मै तेरे लिये अपना वह नारायण-रूप पुनः धारण करूंगा जिसमे मानव मन सुहृद्भूत परमेश्वरकी शांति, साहाय्य और आनंदको अमिश्रित तथा अपनी मानवताके अनुकूल मृदुल रूपमें देखता है। यह महत्तर रूप"—और ये शब्द इस रूपके अंतर्धान होनेके बाद पुनः दुहराये गये हैं—"केवल विरली उच्चतम आत्माओंके लिये ही है। स्वयं देवता भी नित्यप्रति इस रूपके दर्शनकी आकांक्षा किया करते हैं। इसे मनुष्य वेद, तप, दान या यज्ञके बलपर नही देख सकता, बल्कि इसे वह सब वस्तुओंमें केवल मुझे ही देखने, पूजने और प्रेम करनेवाली भक्तिके द्वारा ही देख एवं जान सकता है तथा इसके भीतर प्रवेश पा सकता है।"

तब भला इस रूपकी वह अनुपम विशेषता क्या है जिसके कारण यह ज्ञानका विषय बननेसे इतना ऊपर उठा हुआ है कि मानव ज्ञानका संपूर्ण सामान्य प्रयास और यहांतक कि उसके आध्यात्मिक पुरुषार्थका अंतरतम तप भी, बिना सहायताके, इसके दर्शन उपलब्ध करनेके लिये पर्याप्त नही है? वह यह है कि अन्य साधनोंसे मनुष्य एकमेव सत्के इस या उस ऐकांतिक रूपको ही, उस 'एकं सत्' के व्यक्तिगत, विश्वगत या विश्व-व्यावर्तक रूपोंको ही जान सकता है, पर भगवान्के समस्त रूपोंके इस महत्तम समन्वयकारी एकत्वको नही जान सकता जिसमें एक ही साथ और एक ही दर्शनमें सब कुछ अभिव्यक्त, अतिक्रांत और संसिद्ध रहता है। क्योंकि यहां विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यक्तिगत ईश्वर, आत्मा और प्रकृति, अनंत और सांत, देश, काल और कालातीतता, सत्ता और संभूति, जो कुछ भी हम परमेश्वरके बारेमें सोचनेका यत्न कर सकते हैं तथा जो कुछ उनके बारेमें जानते हैं वह सब, फिर चाहे वह निरपेक्ष सत्ताके विषयमें हो या व्यक्त सत्ताके, एक अनिर्वचनीय एकत्वमें अद्भुत ढंगसे प्रकाशित हो जाता है। ये दर्शन केवल अनन्य भक्ति एवं प्रेम तथा उस घनिष्ठ एकताके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं जो कर्म और ज्ञानकी पूर्णताका सर्वोच्च शिखर होती है। उस समय पुरुषोत्तमके इस परमोच्च रूपको जानना तथा देखना और इसमें प्रवेश करना तथा इसके साथ एक-मय होना संभव होता है, और गीता अपने योगका यही लक्ष्य हमारे सामने प्रस्तुत करती है। एक परम चैतन्य है जिसके द्वारा परात्परकी महिमामें प्रवेश करना तथा उनके अंदर अक्षर आत्मा और समस्त क्षर भावको धारण करना संभव है,—सबके

साथ एकीभूत और फिर भी सबसे ऊपर होना, जगत्को अतिक्रांत कर जाना और फिर भी विश्वगत ईश्वर तथा विश्वातीत ईश्वर दोनोंकी संपूर्ण प्रकृतिका एक साथ आलिंगन करना संभव है। निश्चय ही अपने मन और शरीरकी कारामें बद्ध सीमित मनुष्यके लिये ऐसा करना कठिन है; किंतु, भगवान् कहते हैं, "मेरे कर्मोंको करनेवाला बन, मुझे परम पुरुष तथा परम विषय स्वीकार कर, मेरा भक्त बन, आसक्तिसे मुक्त और सर्वभूतोंके प्रति निर्वैर हो जा; क्योंकि ऐसा मनुष्य ही मुझे प्राप्त करता है।" दूसरे शब्दोंमें, निम्न प्रकृतिसे ऊपर उठना, प्राणिमात्रसे एकता, विश्वव्यापी ईश्वर तथा परात्पर भावके साथ एकत्व, कर्मोंमें हमारी इच्छाका भगवान्की इच्छाके साथ एकत्व, एकमेवके लिये तथा सर्वगत ईश्वरके लिये परम प्रेम,—यही उस चरम-परम आध्यात्मिक स्व-अतिक्रमण तथा उस अकल्पनीय रूपांतरका मार्ग है।

१२

मार्ग और भक्त

गीताके ग्यारहवे अध्यायमें उसकी शिक्षाका मूल उद्देश्य सफल हो चुका है और कुछ हदतक तो वह पूर्ण भी हो गया है। जगत्के लिये तथा उन परमात्माके साथ एक होकर, जो इसमें और इसके सब प्राणियोंमें निवास करते हैं तथा जिनके अंदर इसका समस्त कार्य-व्यवहार चलता है, दिव्य कर्म करनेका आदेश दिया जा चुका है और विभूतिने उसे स्वीकार भी कर लिया है। शिष्यको उसके सामान्य मानवोचित पुरातन भावसे, उसके अज्ञानके मापदंडों, प्रेरकभावों, दृष्टिबिंदु तथा अहमात्मक चेतनासे तथा उस सबसे दूर हटा लिया गया है जिसने उसके आध्यात्मिक संकटके समय अंतिम रूपसे उसका साथ छोड़ दिया था। ठीक वही कार्य जिसे उस आधारपर उसने त्याग दिया था, वही घोर कर्म, वही भयानक संघर्ष अब एक नये आंतरिक आधारपर उसे स्वीकार तथा ग्रहण करा दिया गया है। एक समन्वयसाधक महत्तर ज्ञान, एक दिव्यतर चेतना, एक उच्च निर्वैयक्तिक प्रेरक-भाव, आध्यात्मिक प्रकृतिकी मूल ज्योतिसे तथा उसकी प्रेरक शक्तिके द्वारा जगत्पर कार्य करती हुई भगवदिच्छाके साथ होनेवाले एकत्वका आध्यात्मिक मानदंड,—यही कर्मोंका नया आंतरिक सिद्धांत

है जिसे पुराने अज्ञानयुक्त कर्मका रूपांतर करना है। एक ऐसा ज्ञान जो भगवान्के साथ हमारे एकत्वको अपने अंदर समाविष्ट करता है और भगवान् की अनुभूतिके द्वारा सब पदार्थों तथा जीवों-के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त करता है, एक ऐसी इच्छाशक्ति जो अहंकारसे रहित हो तथा कर्मोंके गुप्त स्वामीके आदेशके द्वारा तथा उनके यंत्रके रूपमें ही कार्य करे, एक ऐसा दिव्य प्रेम जिस-की एकमात्र अभीप्सा भूतमात्रके परम आत्माके साथ घनिष्ठ सान्निध्य प्राप्त करनेकी ही हो, परात्पर एवं विश्वगत आत्मा और प्रकृतिके साथ तथा समस्त प्राणियोंके साथ एक ऐसी आभ्यंतरिक और समग्र-बोधात्मक एकता जो इन तीन पूर्णताप्राप्त शक्तियोंकी एकताके द्वारा संसिद्ध और उपलब्ध हुई हो—यही है वह आधार जो मुक्त आत्माको उसके कर्मोंके लिये प्रदान किया गया है। क्योंकि, इसी आधारपरसे उसकी अंतःस्थ आत्मा करणात्मक प्रकृति-को सुरक्षापूर्वक कार्य करने दे सकती है; वह पतनके समस्त कारणसे ऊपर उठ जाता है, अहंभाव और उसकी सीमाओंसे मुक्त हो जाता है, पाप, अशुभ और उसके फलके समस्त भयसे बच जाता है, बाह्य प्रकृति तथा सीमित कर्मके उस बंधनसे, जो कि अज्ञानकी ग्रंथि है, ऊंचा उठ जाता है। वह अब और अस्पष्ट आलोक या अंधकारमें कार्य न करके ज्योतिकी शक्तिमें कार्य कर सकता है, तथा एक दिव्य अनुमति उसके आचार-व्यवहारके प्रत्येक पगको सहारा देती है। आत्माकी स्वतंत्रता तथा प्रकृतिगत जीव-की बद्धावस्थाके बीच विरोध होनेके कारण जो समस्या उठायी गयी थी वह आत्मा तथा प्रकृतिके ज्योतिर्मय समन्वयके द्वारा हल कर दी गयी है। असलमें उस विरोधका अस्तित्व अज्ञानयुक्त

मनके लिये ही है; ज्ञानयुक्त आत्माके लिये उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता।

परंतु इस महान् आध्यात्मिक परिवर्तनके संपूर्ण अर्थको प्रकाशित करनेके लिये अभी कुछ और कहना बाकी है। बारहवां अध्याय इस शेष ज्ञानकी ओर ले जाता है और उसके बादके अंतिम छः अध्याय इसे विकसित कर एक महान् और चरम सिद्धांततक ले जाते हैं। यह बात जिसे कहना अभी बाकी है आध्यात्मिक मोक्षके संबंधमें प्रचलित वैदांतिक विचार तथा उस विशालतर सर्वग्राही स्वतंत्रताके पारस्परिक भेदपर अवलंबित है जिसे गीताकी शिक्षा आत्माके सम्मुख खोल देती है। अब गीता सीधे उस भेदकी ओर मुड़ती है। प्रचलित वैदांतिक मार्ग साधकको कठोर और एकांगी ज्ञानके द्वारसे ले चलता था। योग, अर्थात् वह एकत्व जिसे वह आध्यात्मिक मुक्तिका साधन तथा तन्मयकारी सारतत्त्व मानता था, शुद्ध ज्ञानका योग था और वह एक परम अक्षर, एक कूटस्थ अनिर्देश्य सत्ताके साथ निस्तब्ध एकत्व था—वह सत्ता है अव्यक्त ब्रह्म, अनंत, शांत, अगोचर एवं दूरस्थ, इस समस्त संबंधमय विश्वसे बहुत ही ऊपर अवस्थित। गीतोक्त मार्गमें ज्ञान एक अनिवार्य आधार है सही, पर केवल सर्वांगीण ज्ञान ही। निर्वैयक्तिक सर्वांगीण कर्म सर्वप्रथम अनिवार्य साधन हैं; परंतु गभीर और विशाल प्रेम तथा आराधना, जिनके प्रति संबंधातीत अव्यक्त, विविक्त और अचल ब्रह्म कोई प्रत्युत्तर नहीं दे सकता,—क्योंकि ये चीजें संबंध तथा घनिष्ठ वैयक्तिक सामीप्यकी मांग करती है,—मोक्ष, आध्यात्मिक पूर्णत्व एवं अमर आनंदके लिये प्रबलतम और उच्चतम शक्ति है। जिन

परमेश्वरके साथ मानवकी आत्माको यह घनिष्ठ एकत्व प्राप्त करना है वे अपनी सर्वोच्च भूमिकामें निश्चय ही एक अचिंत्य परात्पर हैं, परब्रह्मन् हैं, अर्थात् इतने महान् हैं कि उनकी कोई भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; पर साथ ही वे सब वस्तुओंके जीवंत परम आत्मा भी हैं। वे महेश्वर हैं, कर्मोंके तथा विश्व-प्रकृतिके प्रभु हैं। वे प्राणिमात्रके मन, देह और आत्मासे परे भी हैं और साथ ही उनके आत्माके रूपमें उनके अंदर बसे हुए भी हैं। वे पुरुषोत्तम, परमेश्वर और परमात्मा हैं और इन सब समान रूपोंमें एक ही अभिन्न और सनातन देवाधिदेव हैं। इस सर्वांगीण समन्वयकारी ज्ञानके प्रति जागरण ही आत्माकी पूर्ण मुक्ति तथा प्रकृतिकी कल्पनातीत पूर्णताका विशाल द्वार है। अपने सभी रूपोंकी एकतासे समन्वित इन परमेश्वरकी ओर ही हमें अपने सब कर्म-कलाप, उपासना और ज्ञानको एक अखंड अतर्यज्ञके रूपमें मोड़ना होगा। इन परम आत्मा, पुरुषोत्तममें ही, जो विश्वसे अतीत हैं पर साथ ही इसके धारक आत्मा, अंतर्वासी और स्वामी भी हैं, जैसा कि कुरुक्षेत्रके विराड्-रूप-दर्शनमें ओज-स्वी ढंगसे निरूपित किया गया है, मुक्त आत्माको तब प्रवेश करना होगा जब वह एक बार उनकी सत्ताके सभी तत्त्वों और शक्तियों समेत उनका साक्षात्कार और ज्ञान प्राप्त कर ले तथा उनके बहुविध एकत्वको हृदयंगम करने और उसका रसास्वादन करनेमें समर्थ हो जाय, **ज्ञातुं द्रष्टुं तत्त्वेन प्रवेष्टुं च।**

गीताका मोक्ष एकमेवके भीतर होनेवाले लयमें आत्माकी वैयक्तिक सत्ताका आत्म-विस्मृतिपूर्ण विलोप नहीं है, **सायुज्य मुक्ति** नहीं है; वह एक साथ ही सब प्रकारका मिलन है। उसमें

परम ईश्वरत्वके साथ सत्ताके मूलतत्त्व, चेतनाकी घनिष्ठता और आनंदकी अभिन्नतामें पूर्ण एकीभाव लिया सायुज्य है,—क्योंकि इस योगका एक लक्ष्य ब्रह्म बनना है, ब्रह्मभूत। उसमें पुरुषोत्तमकी सर्वोच्च सत्तामें नित्य आनंदमय निवास, सालोक्य, है,—क्योंकि यह कहा गया है कि "तू मुझमें निवास करेगा", निवसिष्यसि मय्येव। उसमें एकीकारक सान्निध्यकी स्थितिमें शाश्वत प्रेम और भक्ति है, मुक्त आत्माका उसके दिव्य प्रेमी तथा उसकी असीमताओंको परिव्याप्त करनेवाले आत्माके द्वारा आलिंगन, सामीप्य है। उसमें आत्माकी मुक्त प्रकृतिका दिव्य प्रकृतिके साथ तादात्म्य, अर्थात् सादृश्य मुक्ति है,—क्योंकि मुक्त आत्माकी पूर्णता है भगवान्‌के समान ही बन जाना, मद्भावमागतः, और अपनी सत्ताके विधान एवं अपने कर्म तथा प्रकृतिके नियममें उनके साथ एक हो जाना, साधर्म्यमागतः। पुराणपंथी ज्ञानयोगका लक्ष्य एकमेव अनंत सत्‌में अगाध लय अर्थात् सायुज्य है; वह केवल उसीको संपूर्ण मोक्ष समझता है। भक्तियोग नित्य निवास या सामीप्य, सालोक्य, सामीप्य, को ही महत्तर मोक्षके रूपमें देखता है। कर्मयोग सत्ता तथा प्रकृतिकी शक्तिमें, स्वभाव एवं स्वधर्ममें एकत्व, सादृश्यकी ओर ले जाता है; पर गीता अपनी उदार समग्रतामें इन सबको समा लेती है और सभीको एक महत्तम एवं समृद्धतम दिव्य स्वतंत्रता तथा पूर्णतामें एकीभूत कर देती है।

इस भेदके विषयमें अर्जुनसे ही प्रश्न करवाया जाता है। यह स्मरण रखना होगा कि निर्गुण अक्षर पुरुष तथा उन परमात्माके बीच विभेद जो एक साथ निर्वैयक्तिक सत् भी है और दिव्य व्यक्ति भी और इन दोनोंसे अधिक भी बहुत कुछ है,—यह

महत्वपूर्ण विभेद, जो पीछेके अध्यायोंमें तथा उन दिव्य "अहम्"में सूचित किया गया है जिसका श्रीकृष्ण अहम्, माम् शब्दोंद्वारा बारंबार उल्लेख कर चुके हैं, अभीतक सर्वथा स्पष्ट और सुनिश्चित रूपसे नहीं बतलाया गया है। हम इसे सर्वत्र पहलेसे ही देखते आये हैं ताकि हम गीताके संदेशका संपूर्ण मर्म आरंभसे ही समझते चलें और ताकि उन महत्तर सत्यके प्रकाशमें नयी दृष्टिसे देखी और खोजी हुई उसी जमीनपर हमें फिरसे न चलना पड़े, जैसा कि हमें अन्यथा करना ही पड़ता। अर्जुनको सबसे पहले यह आदेश दिया गया है कि वह अपने पृथक् व्यक्तित्वको एकमेव सनातन और अक्षर आत्माकी शांत निर्वैयक्तिकतामें निमज्जित कर दे; यह एक ऐसी शिक्षा थी जो उसकी पहलेकी धारणाओंसे भलीभांति मेल खाती थी और जिससे उसके मनमें कोई कठिनाई नहीं पैदा हुई। परंतु अब उसे इन महत्तम परात्पर एवं विशालतम विराट् परमेश्वरके विश्वरूपका साक्षात्कार कराया गया है और आदेश दिया गया है कि वह ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारा उनके साथ एकत्व प्राप्त करनेका यत्न करे। इसलिये एक संदेहको दूर करनेके लिये, जो कि अन्यथा पैदा हो सकता था, वह पूछता है कि इन दोनोंमेंसे अच्छा क्या है, "जो भक्त इस प्रकार सतत योगरत रहकर तुझे खोजते हैं, त्वाम्, और फिर जो अव्यक्त अक्षरको खोजते हैं इनमेंसे कौन अधिक महान् योगवित् है?" यह उस भेदकी याद दिलाता है जो आरंभमें "आत्मामें और फिर मुझमें" आत्मनि अथो मयि आदि वाक्यांशोंसे किया गया है: अर्जुन उस भेदको त्वाम्, अक्षरम् अव्यक्तम् इन शब्दोंके द्वारा पैने रूपमें उपस्थित करता है। वह सार-रूपमें

मानता है कि आप सर्वभूतोंके परम मूल और उद्गम हैं, सब वस्तुओंके भीतर विराजमान उपस्थिति हैं, अपने रूपोंके द्वारा विश्वमें परिव्याप्त शक्ति हैं, एक ऐसे 'व्यक्ति' हैं जो अपनी विभूतियोंमें, प्राणियोंमें तथा प्रकृतिमें अभिव्यक्त हैं और अपने महान् विश्व-योगके द्वारा जगत्में तथा हमारे हृदयोंमें सर्वकर्म-महेश्वरके रूपमें विराजमान हैं। इस रूपमें मुझे अपनी सारी सत्ता तथा चेतनामें, अपने विचारों, भावों और कार्योंमें आपको जानना, पूजना तथा आपके साथ योगयुक्त होना है, सततयुक्त। पर तब इन अक्षरका क्या करना होगा जो कभी व्यक्त नहीं होते, कभी कोई रूप नहीं धारण करते, कर्ममानससे पीछे हटकर तथा उससे पृथक् होकर अवस्थित हैं, जगत्के साथ अथवा इसकी किसी भी वस्तुके साथ किसी प्रकारका संबंध नहीं स्थापित करते, नित्य-मेव शांत, एक, निर्गुण और अचल है? सभी प्रचलित विचारोंके अनुसार यह नित्य आत्मा महत्तर तत्त्व है और अभिव्यक्तिगत परमेश्वर अवर रूप है: 'अव्यक्त' ही नित्य आत्मा हैं, 'व्यक्त' नहीं। तब भला जो योग अभिव्यक्तिको स्वीकार करता है, अर्थात् एक हीनतर वस्तुको अंगीकार करता है वह वैसा करता हुआ भी एक अधिक महान् योग-ज्ञान कैसे हो सकता है?

इस प्रश्नका श्रीकृष्ण बलपूर्ण तथा निश्चयात्मक शब्दोंमें उत्तर देते हैं। "जो मुझमें मन लगाकर, नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धाके साथ मुझे खोजते हैं उन्हें मैं सर्वाधिक पूर्ण रूपसे योगयुक्त मानता हूं।" परम श्रद्धा वह है जो सबके अंदर ईश्वरको देखती है और उस श्रद्धाके नेत्रके लिये अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति एक ही परमेश्वर है। पूर्ण मिलन या योगयुक्त भाव वह है जो प्रत्येक

क्षणमें, प्रत्येक कार्यमें तथा संपूर्ण प्रकृतिके साथ भगवान्‌ने मिलता है। परंतु परमेश्वर कहते है कि जो एक दुष्कर आरोहणके द्वारा अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षरकी ही खोज करते है वे भी मुझे ही प्राप्त करते है। क्योंकि, वे अपने लक्ष्यमें भ्रांत नही है, किंतु वे एक अधिक कठिन तथा कम पूर्ण और कम सिद्ध मार्गका अनुसरण करते है। उस मार्गके सरलतम रूपमे, उन्हें अव्यक्त कूटस्थतक पहुंचनेके लिये यहां विद्यमान व्यक्त अक्षरके द्वारा ही आरोहण करना होता है। यह व्यक्त अक्षर मेरी ही अपनी सर्वव्यापक निर्वैयक्तिकता और नीरवता है; यह बृहत्, अचिंत्य, ध्रुव, अचल, सर्वव्यापक 'अक्षर' पुरुष व्यक्तित्वके व्यापारको धारण करता है पर उसमें भाग नही लेता। यह मनकी पकड़में नही आता; इसे केवल निश्चल आध्यात्मिक निर्वैयक्तिकता और नीरवताके द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है और जो लोग केवल इसीका अनुसंधान करते है उन्हे मन तथा इंद्रियोंके व्यापारको पूर्ण रूपसे नियंत्रित करना और यहातक कि उसे सर्वात्मना अपने अंदर समेट लेना होता है। परंतु फिर भी अपनी बुद्धिकी समताके कारण, सब पदार्थोंमे एक ही आत्माको देखने तथा सर्वभूतोंके हितमें निरत नीरव चित्तकी शात दयालुताके कारण वे भी सब पदार्थों तथा प्राणियोंमे मुझसे ही मिलते है। जो लोग सर्वभावेन भगवान्‌के साथ युक्त होते है, और जगत्‌के पदार्थोंके अचिंत्य जीवंत स्रोतमें, 'दिव्यं पुरुषमचिन्त्यरूपम्' में व्यापक और पूर्ण रूपसे प्रवेश करते है, उनके समान ही, इस कठिनतर ऐकातिक एकत्वके द्वारा संबंधातीत अव्यक्त कूटस्थकी ओर आरोहण करनेवाले ये जिज्ञासु भी अंतमें उसी सनातनको प्राप्त करते है। परंतु यह

कम सीधा तथा अधिक दुर्गम मार्ग है; यह अध्यात्मभावित मानव प्रकृतिकी पूर्ण और स्वाभाविक गति नहीं है।

और यह नहीं समझ लेना चाहिये कि क्योंकि यह अधिक दुर्गम है, इसलिये यह एक उच्चतर एवं अधिक फलप्रद पद्धति है। गीताका सुगमतर मार्ग उसी चरम मोक्षकी ओर अधिक तेजीसे, अधिक स्वाभाविक और सर्वसुलभ रूपसे ले जाता है। क्योंकि, उसका दिव्य 'पुरुष'को स्वीकार करना देहधारी प्रकृतिकी मानसिक तथा ऐंद्रियक सीमाओंके प्रति किसी प्रकारकी आसक्ति-को नहीं सूचित करता। इसके विपरीत, वह आवागमनके प्राकृत बंधनसे शीघ्र ही और प्रभावशाली रूपमें मुक्त कर देता है। ऐकांतिक ज्ञानमार्गका योगी अपनी प्रकृतिकी बहुविध मांगोंके साथ एक दुःखदायी संघर्षको अपने ऊपर लाद देता है; यहांतक कि वह उन्हें उनकी उच्चतम तृप्ति प्रदान करनेसे भी इन्कार करता है और अपनी आत्माके ऊर्ध्वमुख संवेगोंको भी उखाड़ फेंकता है जब कभी वे संबंधोंको अपने अंतर्गत रखते हैं अथवा निषेधकारी 'केवल' से कुछ नीचे रह जाते हैं। दूसरी ओर, गीताका जीवंत मार्ग हमारी संपूर्ण सत्ताकी अत्यंत बलवती ऊर्ध्वमुख प्रवृत्तिको ढूंढ निकालता है और उसे ईश्वरकी ओर मोड़कर ज्ञान, संकल्प, भाव और पूर्णत्वकी सहजप्रेरणाको आरोही मोक्षके इतने सारे सशक्त पंखोंकी न्याईं प्रयुक्त करता है। अपने अनिर्देश्य एकत्वसे युक्त अव्यक्त ब्रह्म एक ऐसी सता है जिसतक देहधारी आत्माएं केवल पहुंच ही सकती हैं, और सो भी बड़ी कठिनाईके साथ और सभी अवदमित अंगोंके अनवरत दमन तथा पीडन और प्रकृतिके उग्र कष्ट-क्लेशके द्वारा ही, दुःखमवाप्यते, क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्।

वह अनिर्देश्य एकत्व अपनी ओर आरोहण करनेवाले सभी लोगों-को स्वीकार करता है, पर आरोहण करनेवालोंको न तो किसी प्रकारकी संबंधात्मक सहायता प्रदान करता है और न उन्हें पैर जमानेकी जगह ही देता है। सब कुछ कठोर तपस्या और कठिन तथा असहाय वैयक्तिक पुरुषार्थके द्वारा ही करना होता है। पर जो गीतोक्त मार्गके अनुसार पुरुषोत्तमकी खोज करते हैं उनका प्रयास कितने भिन्न प्रकारका है! जब वे एक ऐसे योगके द्वारा पुरुषोत्तमका ध्यान करते हैं जो वासुदेवके सिवा और किसीको नहीं देखता, क्योंकि वह सबको उन्हींके रूपमें देखता है, तो वे प्रत्येक स्थलपर, प्रत्येक क्षण, सदा-सर्वदा अपने अगणित रूपों तथा आकृतियोंके साथ उनसे मिलते है, उनके अंदरके ज्ञानदीपको ऊपर उठाते हैं तथा उसकी दिव्य सुखद ज्योतिसे संपूर्ण सत्ताको परिप्लावित कर देते हैं। उससे आलोकित होकर वे प्रत्येक रूप तथा आकारमें परमात्माको निहारते है, समस्त प्रकृतिके द्वारा प्रकृतिके प्रभुको प्राप्त करते है और इसके साथ ही साथ सब भूतोंके द्वारा भूतमात्रके अंतरात्माको, 'अपने-आप'के द्वारा उस सबके, जो कुछ कि वे हैं, आत्माको प्राप्त करते है; तुरंत ही वे सैकड़ों खुलते हुए मार्गोंको एक साथ पार करते ए 'उस'में वेश करते हैं जिससे प्रत्येक वस्तुका उद्भव होता है। इसके विपरीत, कर्म न संबंधशून्य निस्तब्धताकी पद्धति कर्ममात्रसे परे हटनेका यत्न करती है यद्यपि देहधारी ाणियोंके लिये ऐसा करना असंभव है। पर यहा सब कार्य, कर्मके परम प्रभुके ति उत्सर्ग कर दिये जाते हैं और वे भु परम संकल्प-शक्तिके रूपमें हमारे यजन-संकल्पसे मिलते है, उसका भार उससे लेकर हमारी

*

अंतःस्थ दिव्य प्रकृतिके कार्योंका दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य तथा प्राणिमात्रके प्रेमी और सखाका भक्त प्रेमके उदात्त आवेगमें अपनी चेतनाके संपूर्ण अंतस्तल और आनंद-की समस्त उत्कंठाको उन परमात्माकी ओर लगा देता है तब वे शीघ्र ही रक्षक और उद्धारकके रूपमें उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं और उसके मन, तन और हृदयका सुखद आलिंगन करके उसे स मृत्युसमाकुल संसार-सागरकी लहरोंसे उबार लेते हैं और सनातनके सुरक्षित वक्षस्थलमें ऊपर उठा ले जाते हैं।

सो, सबसे अधिक द्रुत, विशाल और महान् मार्ग यही है। परमेश्वर मानव-आत्मासे कहते हैं, अपना संपूर्ण मन मुझमे लगा दे, अपनी समस्त बुद्धि मुझमें निवेशित कर दे: मैं उन्हे दिव्य प्रेम, संकल्प और ज्ञानकी स्वर्गीय ज्योतिसे परिप्लुत करके अपनी ही ओर, जहासे ये सब चीजें प्रवाहित होती हैं, ऊपर उठा ले जाऊंगा। इस मर्त्य जीवन से ऊपर तू मेरे अदर ही निवास करेगा, इस विषयमें संशय मत कर। सीमामे बांधनेवाली पार्थिव प्रकृतिकी शृंखला शाश्वत प्रेम, संकल्प और ज्ञानकी स्पृहा, शक्ति और ज्योतिके द्वारा ऊपर उठी हुई अक्षर आत्माको जकडकर नहीं रख सकती। इसमें संदेह नहीं कि इस मार्गमें भी कठिनाइयां हैं; क्योंकि यहां भी अपने प्रचंड या स्थूल अधोमुख आकर्षणसे युक्त निम्नतर प्रकृतिका अस्तित्व है जो आरोहणकी गतिका प्रतिरोध करती है, उसके साथ संघर्ष करती है और उन्नयन तथा ऊर्ध्वमुख हर्षोल्लासके पंखोंको अवरुद्ध कर देती है। आरंभमें महान् चमत्कारक घड़ियोंमें या शांत और भव्य अवधियोंमे दिव्य चेतनाके प्राप्त हो जानेपर भी, उसे न तो तुरंत पूर्ण रूपसे धारण

किया जा सकता है और न इच्छानुसार उनका पुनः आह्वान ही किया जा सकता है; व्यक्तिगत चेतनाको दृढ़तापूर्वक भगवान्पर एकाग्र रख सकना प्रायः ही असाध्य प्रतीत होता है, ऐसी निशाएं आती हैं जब कि व्यक्ति दीर्घकालतक प्रकाशसे निर्वासित रहता है, विद्रोह, संदेह या विफलताकी घड़ियां अथवा अवसर आते हैं। परंतु फिर भी योगाभ्याससे तथा अनुभवकी सतत पुनरावृत्तिके द्वारा वह उच्चतम आत्मा हमारी सत्तापर हावी होती जाती है और हमारी प्रकृतिको स्थिर रूपसे अपने अधिकारमें कर लेती है। क्या यह भी मनकी बहिर्मुख प्रवृत्तिके बल और आग्रहके कारण अत्यंत कठिन प्रतीत होता है? यदि ऐसा हो तो इसका एक सरल उपाय है, सब कार्योंको कर्मके स्वामीके लिये करना, जिससे मनकी प्रत्येक बहिर्मुख प्रवृत्ति हमारी सत्ताके आंतर आध्यात्मिक सत्यसे संबद्ध हो जाय और यहांतक कि उसे अपनी क्रियाशीलताके समय भी नित्य सद्वस्तुकी ओर पुनः आहूत करके अपने उद्गमके साथ संबद्ध किया जा सके। तब, पुरुषोत्तमकी उपस्थिति प्रकृति-गत मनुष्यके अंदर संवर्धित होती जायगी जबतक कि वह उससे परिपूरित होकर एक देवता और आत्मा ही नहीं बन जाता; संपूर्ण जीवन ईश्वरके अनवरत स्मरणका रूप धारण कर लेगा और पूर्णता भी वर्धित होगी और उसके साथ ही मानव आत्माकी संपूर्ण सत्ताकी परम सत्ताके साथ एकता भी।

परंतु हो सकता है कि ईश्वरका यह अविच्छिन्न स्मरण तथा अपने कार्योंको उनकी ओर ऊपर उठा ले जाना भी सीमित मनकी सामर्थ्यसे परेकी वस्तु प्रतीत हो, क्योंकि मन अपनी आत्म-विस्मृति-की अवस्थामें कार्य तथा उसके बाह्य उद्देश्यकी ओर मुड़ जाता

है और तब उसे भीतर देखना तथा हमारी प्रत्येक चेष्टाको आत्माकी दिव्य वेदीपर उत्सर्ग करना स्मरण नहीं रहता। ऐसी दशामें उपाय यह है कि कर्ममें निम्नतर 'स्व'को संयमित करके फलकी कामनाके बिना कर्म किये जायं। समस्त फलका त्याग करना होगा, उसे कर्मका संचालन करनेवाली शक्तिपर उत्सर्ग कर देना होगा और फिर भी, यह शक्ति हमारी प्रवृत्तिपर जिस कार्यको आरोपित करे उसे करना ही होगा। क्योंकि, इस साधन-के द्वारा बाधा निरंतर घटती जाती है और आसानीसे दूर हो जाती है, मनको ईश्वरका स्मरण करने तथा भगवच्चेतनाके स्वा-तंत्र्यपर अपनेको एकाग्र करनेका अवकाश प्राप्त हो जाता है। यहां गीता क्षमताओंकी एक चढ़ती हुई शृंखलाका प्रतिपादन करती है और निष्काम कर्मोंके इस योगको सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है। अभ्यास, अर्थात् किसी पद्धतिका निरंतर अनुसरण करना, वारंवार प्रयत्न करना तथा अनुभव प्राप्त करना एक महान् और शक्तिशाली साधन है; पर इससे भी श्रेष्ठ है ज्ञान अर्थात् विचारको वस्तुओंके पीछे निहित सत्यकी ओर सफल तथा प्रकाशमय रूपमें मोड़ना। इस विचारात्मक ज्ञानसे भी बढ़कर है सत्यका शांत ध्यान जिससे कि अंतमें जाकर चेतना उसमें निवास करने लगे और उससे सदा एकमय रहे। परंतु उससे भी अधिक प्रभावशाली है अपने कर्मोंके फलका त्याग क्योंकि वह विक्षोभके सभी कारणोंको तुरंत नष्ट कर डालता है और स्वभाव-तः ही एक आंतरिक शांति एवं स्थिरताको लाता तथा सुरक्षित रखता है, और शांति एवं स्थिरता ही वह आधार है जिसपर अन्य सब कुछ पूर्णत्व लाभ करता है और शांत आत्माके द्वारा

अधिकृत होकर सुरक्षित हो जाता है। तब चेतना निर्वृति लाभ कर सकती है, अपने-आपको आनंदपूर्वक भगवान्‌में समाहित करके निर्विघ्न रूपसे पूर्णताकी ओर ऊपर उठ सकती है। और तभी ज्ञान संकल्प और भक्ति अपने शिखरोंको ठोस शांतिकी दृढ भूमि-से नित्यताके व्योममें उठा ले जा सकते हैं।

तब भला, जिस भक्तने इस मार्गका अनुसरण किया है और सनातनकी उपासनाकी ओर मुडा है, उसकी दिव्य प्रकृति क्या होगी, उसकी चेतना और सत्ताकी महत्तर स्थिति क्या होगी? गीता कई-एक श्लोकोंमें बदल-बदलकर अनेक प्रकारसे अपनी पहली आग्रहपूर्ण मांगको, समता, निष्कामता और आत्माके स्वातन्त्र्यकी मांगको गुंजारित करती है। इसे तो आधारके रूपमें सदा ही रहना होगा,—और इसीलिये इसपर आरंभमें इतना अधिक बल दिया गया था। और उस समतामें भक्ति, अर्थात् पुरुषोत्तमसे प्रेम और उनकी आराधनाके द्वारा आत्माको किसी महत्तम एवं उच्चतम पूर्णताकी ओर उठाना होगा जिसका यह स्थिर समता विशाल आधार होगी। इस आधारभूत सम चेतनाके कई सूत्र यहां बताये गये हैं। सर्वप्रथम, अहंभावका, अहंता और ममताका अभाव, **निर्ममो निरहंकारः**। पुरुषोत्तमका भक्त वह है जिसका ऐसा विशाल मन और हृदय है जिसने अहंकी सब तंग दीवारोंको तोड डाला है। सार्वभौम प्रेम उसके हृदयमें निवास करता है, उसके अंतरसे एक विश्वव्यापी करुणाका समुद्र चतुर्दिक् उमड़ा पड़ता है। वह सर्वभूतोंके प्रति मैत्री और करुणाका भाव धारण करेगा तथा किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करेगा: क्योंकि वह धैर्यवान्, चिर-सहिष्णु, तितिक्षु और क्षमाका निर्झर होता है।

निष्काम संतोष, सुख-दुःख तथा हर्ष-शोकके प्रति शांत समता, दृढ़ आत्म-संयम, योगीका अचल-अटल संकल्प एवं दृढ़ निश्चय और संपूर्ण मन-बुद्धिको ईश्वरके प्रति, उनकी चेतना और ज्ञानके स्वामीके प्रति अर्पित करनेवाला प्रेम और भक्ति—ये सब उसकी संपदाएं होती हैं। अथवा, सरल शब्दोंमें कहें तो, वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो क्षुब्ध एवं उत्तेजित निम्न प्रकृतिसे तथा उसकी हर्ष, भय, चिंता, क्रोध और कामना-रूपी लहरोंसे मुक्त होगा, एक स्थिर आत्मा होगा जिसके द्वारा जगत् व्यथित या उद्विग्न नहीं होगा और न वह स्वयं ही जगत्के द्वारा व्यथित या उद्विग्न होगा, वह एक शांतिमय आत्मा होगा जिसके साथ सब शांतिमय व्यवहार करेंगे।

या फिर वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो समस्त कामना और कर्मको अपनी सत्ताके स्वामीके प्रति उत्सर्ग कर चुका होगा, जो पवित्र और शांत, तथा जो कुछ भी हो जाय उसके प्रति उदासीन होगा, किसी भी परिणाम या घटनासे व्यथित या दुःखित न होगा, जो आंतर या वाह्य किसी भी कार्यके समस्त अहंकारमय, वैयक्तिक और मानसिक आरंभ और उपक्रमको अपनेसे परे फेंक चुका होगा, जो दिव्य संकल्प एवं दिव्य ज्ञानको अपने निजी निश्चयों, पसंदगियों और कामनाओं के द्वारा पथच्युत किये बिना अपने अंदरसे प्रवाहित होने देगा, और फिर भी ठीक इसी कारण अपनी प्रकृतिके समस्त कर्ममें तीव्र और दक्ष होगा, क्योंकि परम संकल्पके साथ यह अविकल एकत्व, यह शुद्ध यंत्र-भाव महत्तम कर्म-कुशलताकी शर्त है। और फिर, वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो न तो प्रिय वस्तुकी आकांक्षा करेगा तथा उसके स्पर्शसे पुल-

चित होगा और न ही अप्रिय वस्तुसे घृणा करेगा तथा उसके बोझसे दुःखित होगा। वह शुभ और अशुभ घटनाओंके भेदको मिटा चुका है, क्योंकि उसकी भक्ति सभी वस्तुओंको अपने सनातन प्रेमी और प्रभुके हाथोंसे प्राप्त अच्छी वस्तुएं समझती हुई समान भावसे उनका स्वागत करती है। ईश्वरका प्रिय ईश्वर-प्रेमी विशाल समत्वसे युक्त आत्मा होता है जो मित्र और शत्रुके प्रति सम दृष्टि रखता है, मान-अपमान, सुख-दुःख, निंदा-स्तुति, हर्ष-शोक एवं शीतोष्ण तथा उन सब चीजोंके प्रति सम होता है जो सामान्य प्रकृतिको विरोधी भावोंसे व्यथित करती हैं। वह किसी भी व्यक्ति या वस्तु, स्थान या घरके प्रति आसक्ति नहीं रखेगा; चाहे किन्हीं भी परिस्थितियोंसे, ऐसे किसी भी संबंधसे जो कि मनुष्य उसके साथ स्थापित करें, किसी भी स्थिति या भाग्यसे वह संतुष्ट और तृप्त रहेगा। उसका मन सभी विषयोंमें स्थिर भाव धारण करेगा, क्योंकि वह (मन) नित्य-निरंतर उच्चतम आत्मामें अवस्थित तथा सदैव अपने प्रेम और आराधनके एक अनन्य दिव्य पात्रमें समाहित रहेगा। समता, निष्कामता, निम्नतर अहंमय प्रकृति तथा उसके दावोंसे मुक्ति सदा ही वह एकमात्र पूर्ण आधार है जिसकी गीता महान् मोक्षके लिये मांग करती है। वह अपनी प्रथम आधारभूत शिक्षा तथा मूल स्पृहणीय वस्तुपर, सभी वस्तुओंमें एक ही आत्माको देखनेवाली शांत ज्ञानमय आत्मापर, ज्ञानके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाली शांत निरहंकार समता, उस समतामें कर्मोंके प्रभुके प्रति अर्पित निष्काम कर्म, महत्तर अंतर्वासी आत्माके हाथोंमें मनुष्यकी संपूर्ण मानसिक प्रकृतिके समर्पणपर अंततक बारंबार बल देती है। और इस

समताका मुकुट है वह प्रेम जो ज्ञानपर प्रतिष्ठित होता है, यज्ञ-भावसे किये जानेवाले कर्ममें परिसमाप्त तथा सब वस्तुओं और प्राणियोंके प्रति विस्तारित होता है, अर्थात् जो विश्वके स्रष्टा और महेश्वर दिव्य आत्मा, सुहृदं सर्वभूतानां सर्वलोकमहेश्वरम्, के लिये व्यापक, अनन्य तथा सर्वधारक प्रेम होता है।

यह है वह आधार, अवस्था एवं साधन जिसके द्वारा हमें परमोच्च आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करनी है और भगवान् कहते है कि जो लोग किसी भी प्रकार इससे युक्त है वे सभी मेरे प्रिय है, भक्तिमान् मे प्रियः। परंतु मेरी अत्यंत प्रिय आत्माएं, अतीव मे प्रियाः, परमेश्वरकी अत्यंत निकटवर्ती वे आत्माएं हैं जिनका ईश्वर-प्रेम उस और भी विशालतर तथा महत्तम पूर्णताके द्वारा पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ है जिसका पथ एवं पद्धति मैंने तुझे अभी बतायी है। ये ही वे भक्त हैं जो पुरुषोत्तमको अपना एकमात्र परम लक्ष्य बनाते हैं और इस शिक्षामें वर्णित अमरत्वसाधक धर्म-का अनुसरण पूर्ण श्रद्धाके साथ तथा यथोक्त रीतिके अनुसार करते है। गीताकी भाषामें 'धर्म'का अर्थ है सत्ता तथा उसके कर्मोका स्वाभाविक विधान तथा आंतरिक प्रकृतिसे निःसृत और उसके द्वारा निर्धारित कर्म, स्वभावनियतं कर्म। मन, प्राण और शरीर-की निम्नतर अज्ञ चेतनामें अनेक धर्म, अनेक नियम, अनेक मान-दंड तथा विधान है क्योंकि मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक प्रकृतिके अनेक विभिन्न निर्धारण तथा प्रकार है। अमर धर्म एक ही है; वह सर्वोच्च आध्यात्मिक दिव्य चेतना तथा उसकी शक्तियोंका, परा प्रकृतिः का धर्म है। वह त्रिगुणसे परे है, और उसतक पहुंचनेके लिये इन सब निम्नतर धर्मोका परित्याग करना

होगा, सर्वधर्मान् परित्यज्य। उनके स्थानपर सनातनकी अखंड, मोक्षप्रद एकीकारक चेतना तथा शक्तिको ही हमें अपने कर्मका अनंत उद्गम, उसका सांचा, निर्धारक तथा आदर्श बनाना होगा। अपने निम्नतर वैयक्तिक अहंभावसे ऊपर उठना, निर्विकार सनातन सर्वव्यापी अक्षर पुरुषकी निर्वैयक्तिक और सम स्थिरतामें प्रवेश करना और फिर उस स्थिरतासे, अपनी समस्त सत्ता और प्रकृतिके पूर्ण आत्मसमर्पणके द्वारा, उस पूर्ण स्थिरताके लिये अभीप्सा करना जो अक्षरसे ऊपर और उच्चतर है—यह इस योगकी पहली आवश्यकता है। इस अभीप्साके बलपर मनुष्य अमर धर्मकी ओर उठ सकता है। वहां, परमतम 'उत्तम पुरुष'के साथ सत्ता, चेतना और दिव्य आनंदमें एक होकर, उनकी परमोच्च क्रियाशील प्रकृति-शक्ति, स्वा प्रकृतिः, के साथ एक होकर मुक्त आत्मा उच्चतम अमरत्व तथा पूर्ण स्वातंत्र्यकी वास्तविक शक्तिके साथ अनंत ज्ञान प्राप्त कर सकती है, असीम प्रेम तथा निर्भ्रांत कार्य कर सकती है। शेष गीता इस अमर धर्मपर अधिक पूर्ण प्रकाश डालनेके लिये ही लिखी गयी है।